योग सिद्धान्तो और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 31 जून, 1998 अंक 3

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) – 283 202

SIDDHYOG

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

❒

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

❒

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

❒

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति	रु०	7-00
वार्षिक शुल्क	रु०	70-00
द्विवार्षिक	रु०	130-00
आजीवन	रु०	700-00

इस अंक में

❒ श्रोत्राकांशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्। 1

❒ अमृत कण 2

❒ सिद्ध दर्शन का उपाय--स्वाध्याय (विशेष लेख) 3
योगिराज अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

❒ योग साधना में विघ्न एवं उनकी निवृत्ति के उपाय (सम्पादकीय) 6

❒ कृष्णस्तु लीलामयः 11
स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज

❒ सद्गुरु कृपा बिना योग सम्भव नहीं 15
डा० स्वामी केशवाचार्य

❒ आत्मा का स्वास्थ्य है समाधि......... 17
आचार्य रजनीश

❒ शक्तिपात से कुण्डलिनी जागरण... 20
डा० विजय सिंह

❒ ध्यान 23
रामप्रकाश अनुरागी

❒ चित्त 24
जनक कुलश्रेष्ठ

❒ सच्चिदानंद श्रीकृष्ण तत्व 26
ब्रह्मानन्द दीक्षित

❒ जिन्दगी जैसा त्याग 29
योगेश कुमार श्रीवास्तव

❒ विश्व मानव प्रेम और शान्ति 31
राजेश कुमार श्रीवास्तव

❒ सद्गुरु की आवश्यकता 36
श्री विष्णुप्रसाद व्यास

❒ पञ्चाक्षर-मन्त्र की महिमा 39
(कल्याण से साभार)

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 31 अंक 3	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।	जून 1998

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।

पातंजलि योगदर्शन विभूतिपाद ३/४१

अर्थात्

शब्द को ग्रहण करने वाली श्रोत्र–इन्द्रिय अहंकार से उत्पन्न हुई है और आकाश की उत्पत्ति अहंकार जनित शब्द तन्मात्रा से हुई है, अतः आकाश, शब्द और श्रोत्र–इन्द्रिय–इन तीनों की एकता है। इस श्रोत और आकाश के संबध को जब योगी संयम द्वारा प्रत्यक्ष कर लेता है तब उसकी श्रोत्र–इन्द्रिय सूक्ष्म शब्द को सुन सकता है तथा किसी वस्तु से ढके हुए शब्द को भी सुन सकता है और जो शब्द कहीं दूर देश में बोला जाय, उसे भी सुन सकता है, क्योंकि आकाश विभु अर्थात् सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। अतः जिसकी श्रोत्र–इन्द्रिय दिव्य यानी अलौकिक हो जाती है, वह चाहे जिस शब्द को जहाँ पर वह हो वहीं सुन सकता है।

अमृत कण

लीला कथा के श्रवण से परम धाम की प्राप्ति

इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयाऽऽत्तलीला तनोस्तदनुरूपविडम्बनानि।
कर्माणि कर्म कषणानि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन्।
मर्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्द श्रीमद्कथा श्रवण कीर्तनचिन्त्यैति।
तद्धाम दुस्तर कृतान्त जवापर्ग ग्रामाद् वनं क्षितिभुजोऽपिययुर्यदर्थाः॥

अर्थात्

हे परीक्षित! प्रकृति से अतीत परमात्माने अपने द्वारा स्थापित धर्म–मर्यादा की रक्षा के लिये दिव्य लीला–शरीर ग्रहण किया और उसके अनुरूप अपने अद्भुत चरित्रों का अभिनय किया। उनका एक–एक कर्म स्मरण करने वालों के कर्मबन्धनों को काट डालने वाला है। जो यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्री कृष्ण के चरण कमलों की सेवा का अधिकार प्राप्त करना चाहे, उसे उनकी लीलाओं का ही श्रवण करना चाहिये। परीक्षित! जब मनुष्य प्रतिक्षण भगवान् श्री कृष्ण की मनोहारिणी लीला कथाओं का अधिकाधिक श्रवण कीर्तन और चिन्तन करने लगता है तब उसकी यही भक्ति उसे भगवान के परम धाम में पहुँचा देती है। यद्यपि काल की गति के परे पहुँच जाना बहुत ही कठिन है तथापि भगवान् के धाम में काल की दाल नहीं गलती। वह वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता। उसी धाम की प्राप्ति के लिये अनेक सम्राटों ने अपना राजपाट छोड़कर तपस्या करने के उद्देश्य से जंगल की यात्रा की है। इसलिये मनुष्य को उनकी लीला–कथा का ही श्रवण करना चाहिये।

श्री मद्भागवत् १०/९०/४९–५०

विशेष लेख

सिद्ध दर्शन का उपाय–
स्वाध्याय

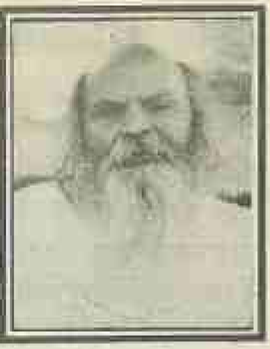

योगिराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग का उपदेश करते हुये भगवान ने अर्जुन से कहा '**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः**' अर्थात जो संयतेन्द्रिय नहीं हैं संयमी नहीं हैं उन्हें योग प्राप्त होना कठिन है। यह सुनकर अर्जुन सोचने लगा मैं संयमी नहीं हूं। मैं तो एक गृहस्थी हूं यदि मैं योगाभ्यास करूं किन्तु पूर्णता को प्राप्त न कर सका ऐसा सोचकर अर्जुन ने भगवान से प्रश्न किया– 'भगवन् ! यदि कोई व्यक्ति पूर्णरूपेण संयतेन्द्रिय नहीं है किन्तु योगाभ्यास में श्रद्धापूर्वक लगा हुआ है इस प्रकार से लगा हुआ वह व्यक्ति इस जन्म में तो कदाचित् योग प्राप्त न कर सके और बीच में ही उसका शरीर छूट जाये तो उसकी क्या गति होगी ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह इहलोक और परलोक दोनों से नष्ट हो जाये। मेरे मन में यह संशय है आप ही मेरे इस संशय को दूर कर सकते हैं। इस संशय को दूर करने वाला आपके अतिरिक्त मुझे और कोई दिखाई नहीं देता'। इसका उत्तर देते हुये भगवान कहने लगे– पार्थ ! '**नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते**' हे अर्जुन ! ऐसा कल्याण के मार्ग में लगा हुआ व्यक्ति न यहां नष्ट होता है और न ही परलोक में। ऐसा योग भ्रष्ट व्यक्ति शरीर छूट जाने के बाद फिर पवित्र एवं धनवानों के कुल में जन्म लेता है अथवा योगियों के घर मे ही उसका जन्म होता है। मनुष्य जन्म लेता है अथवा योगियों के घर में ही उसका जन्म होता है मनुष्य जन्म लेने के बाद अनुकूल वातावरण पाकर पूर्व देह में विद्यमान योग के संस्कार को–बुद्धि संयोग को पा जाता है इस प्रकार से वह पुनः योगाभ्यास करता है मैं तुम्हें समझा रहा था कि विचारानुगत समाधि में ही योगाभ्यासी के योगच्युत होने का भय होता है। इस प्रकार से यदि योगी विचारानुगत समाधि का अभ्यास करते–करते पूर्णता को नहीं पा सकता है तो वह बार–बार मानव जन्म लेकर योगाभ्यास में लग जाता है। योग दर्शन में भी भगवान पतञ्जलि जी ने ठीक इसी बात को समझाया है–

भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्' अर्थात् विदेह देवता और प्रकृति लीन योगी भव प्रत्यय वाले योगी कहलाते हैं। इनमें जन्मजात समाधि के संस्कार पाये जाते हैं। स्वर्ग के देवता अमर कहे जाते हैं। वे मलमूत्र त्यागने वाले नहीं होते। हमारे योग शास्त्र में खेचरी मुद्रा का वर्णन आता है '**नतस्य क्षुधा न तृषा यो वेत्ति मुद्रां खेचरीम्**' जो खेचरी मुद्रा के अभ्यासी योगी हैं उन्हें भूख प्यास आदि नहीं लगते। हिमालय में रहने वाले योगी भी भोजन आदि नहीं करते। खेचरी से अमृत का पान करते रहते हैं। अन्न ग्रहण की उन्हें आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी प्रकार से स्वर्ग के देवता अमृत पीते रहते हैं योगी लोग तो खेचरी से अमृत पीते हैं किन्तु उन्हें (देवताओं को) यह स्वाभाविक प्राप्त है। हमारे जो देवरहा बाबा हैं वे भी खेचरी सिद्ध हैं। जो कोई उनके पास जाकर श्री प्रभु रामलाल जी का नाम लेता है तो वे उसे प्यार से बैठाते हैं प्रसाद आदि देते हैं। मेरे बच्चे आगरा के जगन प्रसाद रावत है उन्होंने देवराहा बाबा से खेचरी मुद्रा के बारे में पूछा था। उन्होंने खेचरी मुद्रा के बारे में विस्तार से बताते हुये कहा था कि श्री प्रभु जी ने अपने स्वहस्त लिखित पुस्तक मे भी लिखा है कि मुरादाबाद के पास एक ब्राह्मण बालक खेचरी का अभ्यास करता था किन्तु पूर्ण नहीं हो रहा था। हमने उसे पूर्ण करा दिया। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि योगी लोग हिमालय

में रहते हुये खेचरी के अभ्यास से हजारों वर्षों तक शरीर को रखे रहते है। मैं एक सच्ची घटना सुनाता हूं। एक महात्मा थे ज्योति प्रकाश आश्रम। वे हिमालय में सिद्धों की तलाश करते रहे उन्हें कोई योगी–सिद्ध नहीं मिला। यह घटना १०–१५ वर्ष पूर्व कल्याण पत्रिका में भी छपी थी। **देहम् वा पातेयम् कार्यम् वा साधेयम्**' के ध्येय पर वह दृढ़ हो गया। यह बात हर साधक में आनी चाहिए। योगदर्शन में आता है '**स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोग:**' स्वाध्याय से इष्टदेव के दर्शन होते हैं जो लोग जप तप और ध्यान में लगे रहते हैं उनको इष्ट देव; के देवताओं के व सिद्धों के दर्शन होते हैं।

महात्मा ज्योति आश्रम कन्दमूल–फूल आदि खाकर चलते रहते थे। अन्त में एक दिन उन्हें एक ब्रह्मचारी मिले। ये २५–२६ वर्ष के दिखाई दे रहे थे। सिर के बाल काले थे शरीर हृष्ट–पुष्ट दिखाई दे रहा था। उन्होंने इनसे पूछा–'**कस्त्वम्, कुतस्त्वायात: ?** तुम कौन हो, कहाँ से आये हो ? इन्होंने उत्तर दिया– मैं ऋषिकेश से आया हूं। मुझे सिद्ध दर्शन की इच्छा है मैं हिमालय में सिद्धों के दर्शन की इच्छा से ही भटक रहा हूं। उन ब्रह्मचारी ने कहा– तुमने कितना स्वाध्याय किया है, जप–तप कितना किया है ? उसने कहा– जप–तप व स्वाध्याय तो मेरा विशेष नहीं है ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया– तुम्हें सिद्धों के दर्शन नहीं हो सकते। खैर वे ब्रह्मचारी उन्हें आगे ले गये और एक वट वृक्ष की खोल में बैठा दिया। एक जड़ी दिखा दी और कहा– इस जड़ी को खा लिया करना इससे तुम्हें आठ दिन तक भूख नहीं लगेगी। आठवें दिन फिर जड़ी को खा लिया और फिर स्वाध्याय के लिए बैठ जाया करना। इस प्रकार से जब तुम्हारा स्वाध्याय बढ़ जायेगा तब तुम सिद्ध दर्शन के अधिकारी बन जाओगे और तुम्हें सिद्ध दर्शन करा दूंगा। इस प्रकार कहकर ब्रह्मचारी चले गये। ज्योति प्रकाश आश्रम उस स्थान पर बैठकर एक वर्ष तक जप–ध्यान आदि करते रहे।

एक साल के बाद वह ब्रह्मचारी पुन: आये और उनसे पूछने लगे– तुम्हारा स्वाध्याय ठीक चल रहा है ? उन्होंने कहा हाँ, मेरा स्वाध्याय ठीक चल रहा है। उन ब्रह्मचारी ने कहा–स्वाध्याय करने से अब तुम सिद्धों के दर्शन के अधिकारी हो गये हो। चलो ! अब तुम्हें मैं सिद्धों के दर्शन करता हूं। आगे ले जाकर के सबसे पहले उन्होंने एक महात्मा के दर्शन कराये वे महात्मा बैठे हुये भी इतने ऊँचे थे जितने हम तुम खड़े होकर लगते हैं। महात्मा समाधि में बैठे हुये थे। ज्योति प्रकाश आश्रम ने पूछा ये समाधि से कब उठते हैं ? ब्रह्मचारी ने कहा– ये १०० वर्ष में एक बार समाधि से उठते हैं। महात्मा ज्योति प्रकाश ने उस ब्रह्मचारी से पूछा– आपने इनको समाधि से उठे हुये कितनी बार देखा है ? ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया हमने समाधि से सात बार उठे हुये देखा है इसका मतलब यह हुआ कि २५ या २६ वर्ष के लगने वाले वे ब्रह्मचारी स्वयं सात सौ वर्ष से अधिक के थे। इसके बाद ब्रह्मचारी उन्हें आगे और गुफाओं में ले गये। वहां भी बहुत से योगी समाधि में बैठे हुये थे उन सब वृहत्काय सिद्धों के दर्शन कराये ज्योति प्रकाश ने ब्रह्मचारी से पूछा ये लोग कब से समाधि में बैठे हुये हैं। ब्रह्मचारी ने बताया ये लोग महाभारत के समय से ही बैठे हुये हैं महाभारत को हुये ५००० वर्ष से भी ऊपर हो गये। इसके बाद ब्रह्मचारी जी ने ज्योति प्रकाश आश्रम से कहा अब तुम वापिस चले जाओ। वह कहने लगा मैं–अब वापिस नहीं जाऊंगा यहीं रहूँगा। इस पर ब्रह्मचारी ने कहा–यहां पर अन्न खाने वाला और मल मूत्र त्यागने वाला व्यक्ति नहीं रह सकता। यदि तू यहां रहेगा भी तो तुम्हें सिद्ध लोग यहाँ से उठाकर फैंक देंगे। तुम और स्वाध्याय बढ़ाओ जब तुम अधिकारी हो जाओगे तुम्हारा अन्त:करण शुद्ध हो जायेगा तो हम लोग तुम्हें स्वयं ले लेंगे।

स्वामी ज्योति प्रकाशाश्रम वहां से लौट आये और आकर बिजनौर में भगवद्दत्तश्रोत्रीय से उपनिषदें पढ़ने लगे। श्रोत्रीय जी संस्कृत बड़ा महाविद्यालय

चलाते थे। वे मुझे ऋषिकेश में मिले थे। वे बताते थे कि एक बार के सुनने मात्र से ही उन्हें उपनिषदें याद हो जाती थीं। भगवद्दत्त जी मुझे बताते थे कि इधर वे उन्हें उपनिषद सुनाते जाते थे उधर उनको सारी याद हो जाती थी। चार छः महीने में सारी उपनिषदें याद हो गई। इसके बाद महात्मा ज्योति प्रकाश आश्रम फिर हिमालय चले गये। तो देखो ! वहाँ पर हिमालय में जाने पर ज्योति प्रकाशाश्रम को सिद्धों ने कहा कि मल—मूत्र त्यागने वाला यहाँ नहीं रह सकता है। सिद्धों ने उनसे यह भी कहा कि जो खाता है सो मरता है और जो सोता है वह मरता है। यह एक विचारणीय बात है मैंने तुम्हें कई बार अपने बचपन के साथी अगड़भत्ता की बातें बतलाई है। वह भी कहा करता था। "कि जो खाता है सो मरता है जो सोता है वह मरता है हम न खाते है न सोते है इसलिए हम मरेंगे नहीं" मैंने तुम्हारे सामने अपने बड़े गुरु भाई श्री हरिहरानन्द का जिक्र कई बार किया है।

वे हिमालय में शीशा गिरि पहाडी पर समाधि में बैठे हुये है और तीन महीने में एक बार समाधि से उठते है। श्री आनन्दकन्द प्रभु जी हमारे गुरुदेव जी अपने मुखारविन्द से बतलाया करते थे कि हमारे बच्चों में हरिहरानन्द ऐसे बच्चे थे जिन्होंने षटचक्र विभेदन किया है और अजर—अमर होने का मतलब है उनका शरीर काल का ग्रास नहीं बनेगा। श्री प्रभु जी ने किस प्रकार उन्हें क्षण में ही तत्व विजयी सिद्ध होने का वरदान देकर अजर अमर बना दिया यह घटना मैं तुम्हें कई बार सुना चुका हूं। मैंने अपने बच्चे रघुनन्दन प्रसाद टाट बाबा को हरिहरानन्द के स्थान का पता लगाने के लिये भेजा था वह शीशा गिरि पहाड़ पर तो पहुंच गया किन्तु वहाँ विषैली हवाओं के चलने के कारण वह उन तक पहुंच न सका किन्तु उसने पता लगा लिया कि दुर्गम पहाड़ी पर एक गुफा में हरिहरानन्द रहते है। और तीन माह में एक बार उठा करते है। टाट बाबा ने वापिस आकर मुझे बताया कि वहाँ विषैली हवाओं के कारण मेरा शरीर फटने लगा था। खून बहने लगा इसलिये मैं लौट आया हूं। इस समय हरिहरानन्द जी सौ सवा सौ वर्ष के होंगे क्योंकि जब वे श्री प्रभु जी के चरणों में आये तो २५—३० वर्ष के थे। मेरे कहने का अभिप्राय जो लोग खेचरी सिद्ध कर लेते है वे अजर—अमर हो जाते है। हिमालय में बहुत से सिद्ध पुरुष है जो खेचरी आदि के द्वारा अजर—अमर हैं इस प्रकार से जो तत्वविजयी महासिद्ध होते है। वे अपने शरीरों को हजारों लाखों वर्षों तक रख सकते हैं। साधकों की दो गति होती है योगाभ्यास करने वाला यदि पूर्ण ब्रह्मचारी है तब तो वह सिद्ध हो जाता है यदि संयमी नहीं है और अभ्यास करता है किसी प्रकार से काम वासना में पड़कर के सफलता प्राप्त नहीं कर पा रहा है तो वह स्वर्ग के ऊँचे लोकों को प्राप्त होता है। और लाखों वर्षों तक वहां रहता है। मैंने तुम्हारे सामने अपने बड़े गुरु भाई श्री गोपालानन्द जी के बारे में कई बार बताया है। श्री प्रभु जी उन्हे तत्व विजयी बनाने की इच्छा से साधना करा रहे थे। जिन दिनों वे अभ्यास कर रहे थे एक दिन उन्होंने मुझ से कहा—आज मैं अग्नि तत्व का आकर्षण करूंगा। वे समाधि में बैठ गये अग्नि तत्व का आकर्षण किया उनका शरीर जलने लगा शरीर पर हाथ नहीं रखा जा सकता था। दूसरे दिन उन्होंने मुझ से कहा— आज मैं जलीय तत्व का आकर्षण करूंगा। उस दिन उनका शरीर बर्फ की भाँति ठण्डा हो गया हमारे शरीर में पृथ्वी—जल आदि पांच तत्व हैं यदि योगी इन तत्वों पर अधिकार पा लेता है और खेचरी हो जाये तो अपने शरीर को अजर—अमर बना कर रख सकता है। श्री प्रभु जी ने ब्र.गोपालानन्द जी को ये साधनायें कराई किन्तु वे उच्चतम लक्ष्य को नहीं पा सके इस प्रकार से ये साधनायें विफल रहीं। अस्तु।

मेरे कहने का अभिप्राय है यदि सिद्धों के दर्शन और कृपा चाहते हो तो खूब स्वाध्याय करो। अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर सिद्ध लोग आँखों के सामने स्वयं आया करते हैं। इसलिये स्वाध्याय में—मन्त्र जाप में खूब मन लगाओ। तुम्हारे लिये यही सब प्रकार से कल्याण का मूल साधन है। ※

सम्पादकीय

योग साधना में विघ्न एवं उनकी निवृत्ति के उपाय

अपने पिछले लेख में मैंने योग मार्ग में आने वाले विघ्नों का नाम संकेत करते हुये उनमें सर्वप्रथम व्याधि नामक विघ्न का स्वरूप एवं उसकी निवृत्ति के उपायों का वर्णन करने का प्रयत्न किया था। यदि साधक को लगातार अपनी साधना क्रम बनाये रखना है तो उसका शरीर स्वस्थ होना बहुत आवश्यक है। **धर्मार्थकाममोक्षणम् रोग्यम् मूलमुत्तमम्'** कहकर ऋषियों ने आरोग्य को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों का मूलाधार बताया है। इसी से ही मानव इस जीवन और पारलौकिक जीवन के समस्त साधनों का सम्पादन कर सकता है। इसलिये साधक को सदा व्याधि रूप महाविघ्न से बचकर रहना चाहिये। हमारे पूज्यपाद सद्गुरुदेव जी की हर साधक को यह आज्ञा थी कि वह कम से कम एक घन्टा प्रातः जीवन तत्व साधन की क्रियाओं को करे। परमगुरुदेव प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने समस्त मानव जाति को रोग मुक्त कर योग की ओर उन्मुख करने के लिये इन साधनों को अपनी प्रज्ञा से उद्घाटित किया है। अस्तु।

योगमार्ग के दूसरे विघ्न के रूप में आने वाले विघ्न का नाम **'स्त्यान'** है। चित्त की अकर्मण्यता को ही स्त्यान कहा गया है। योग मार्ग की महिमा एवं फल का श्रवण कर लेने पर योग जिज्ञासु बन जाने पर शरीर के स्वस्थ होने पर भी ठीक प्रकार से साधना में प्रवृत्त न होना 'स्त्यान' है। योग के परम लक्ष्य को सदा अपने सामने न रखने के कारण चित्त अकर्मण्य रहता है। शरीर में लम्बी व्याधि हो जाये तो इसके साथ में आधि भी हो जाती है अर्थात् मन भी रोगी होकर अकर्मण्य बन जाता है। योगज संस्कारों की शिथिलता अथवा कृशता में भी चित्त अकर्मण्य रहता है। ऐसी स्थिति में साधक को चित्त की अकर्मण्यता को दूर करने के उपाय ढूंढने चाहिये। ताकि योग साधना के प्रति उसकी उत्कट लालसा बन जाये और साधना में दृढ़ता से प्रवृत्त हो जाये। चित्त की इस अकर्मण्यता को दूर करने का एक ठोस उपाय है सत्संग। सत्संग करने से योग के शिथिल संस्कार प्रबल व पुष्ट हो जाते हैं। सत्संग करने से योग विद्या की महिमा, फल एवं स्वरूप की सही स्थिति का ज्ञान हो जाता है। सत्संग करने से ही मन के काम और क्रोध जैसे मानसिक रोग दूर होते हैं इन्हें योग मार्ग के प्रबल दो शत्रु के रूप में भगवान ने गीता में बताये है। सत्संग का सही–सही अर्थ

तो है **'सताम्—महताम्—सिद्धानाम् संग सत्संग:'**

महापुरुषों का, सिद्ध पुरुषों का संग सत्संग कहलाता है। जिनका चित्त पूर्णतया संकल्प विकल्प रहित स्थिति में प्रतिष्ठित हो गया हो, परम तत्व में ही जिनकी स्थिति बन गई हो ऐसा योग युक्त पुरुष सिद्ध पुरुष कहलाता है। तीव्र संस्कारों के फलस्वरूप ही ऐसी सिद्धगुरू की चरण शरण मिला करता है और उनके शरणागत होने पर जन्म जन्मान्तर की समस्त साधनायें फलीभूत हो जाती हैं। सिद्ध पुरुष के चरण शरण में आने पर उनकी चिन्मय मूर्ति के चिन्तन से, उनकी सेवा से उनकी पूर्ण कृपा साधक पर हो जाती है जिसका फल यह होता है कि धीरे—धीरे उसका भी मन संकल्प विकल्प शून्य स्थिति की ओर चला जाता है। गुरुदेव के आत्मिक शक्ति के प्रभाव से उनके संकल्प से साधक का चित्त एक तत्व में ठहर कर अचल सागर की तरह शान्त हो जाता है। सिद्ध गुरुओं की आकृति का ध्यान करने से साधक का मन बुद्धि उनके मन बुद्धि में समाहित होने लगता है। इससे मन में स्वत: ही तत्व ज्ञान प्रस्फुटित होने लगता है योग दर्शन में **'वीतराग विषयं वा चित्तम्'** इस सूत्र के द्वारा इसी बात को समझाया गया है। योग दर्शन में एक सूत्र आया है—

''तत: प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च''। इस सूत्र में ईश्वर समर्पण—सद्गुरु समर्पण के दो फल बताये हैं एक फल तो है प्रत्यक् चेतन का ज्ञान होना। प्रत्यक् चेतन का अर्थ है अविद्याविशिष्ट जीव या वृत्यारूढ़ चैतन्य। परम गुरू ईश्वर में समर्पण का दूसरा फल बताया गया है योग साधना में आने वाले विघ्नों का नाश। सिद्ध—सद्गुरु के चरणों की प्राप्ति उन्हीं जीवों को होती है जिनके पुण्य की राशि बहुत इकट्ठी हो गई हो। इस विषय में— भगवान सदाशिव ने कहा है—

पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्
तत: सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।

अर्थात्—जन्म—जन्मान्तर के पुण्य इकट्ठे होकर सद्गुरु की संगति प्रदान करते हैं और फिर सिद्ध गुरु की कृपा से मनुष्य योगी बन जाता है योगी बनने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। सिद्ध गुरु के चरण शरण के अभाव में साधक को योग के उत्कृष्ट साधकों से सत्संग करना चाहिये इस प्रकार के सत्संग को शास्त्रों में अभ्यास कहा है। योग वाशिष्ठ का वचन है—

तच्चिन्तनं तत्कथमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् एतदेकपरत्वं च तदभ्यास विदुर्बुधा:।

अर्थात्—अपने लक्ष्य के विषय में चिन्तन करना, उसी विषय की कथा वार्ता और उसी विषय को एक दूसरे को समझाने की चेष्टा करना ही अभ्यास कहलाता है। निम्न स्थिति के साधक को चाहिये कि वह अपने से उत्कृष्ट ध्यान स्थिति वाले साधकों के पास बैठकर ध्यानाभ्यास करे। उनके एकाग्र चित्त के प्रभाव से मन्द साधक का भी चित्त एकाग्र होने लगता है। हमारे पूज्यपाद सद्गुरुदेव जी बताया करते थे कि अमृतसर में श्री प्रभु जी के सत्संग में दो अंग्रेज रीड़ और मल्लन भी आया करते थे। उनको श्री प्रभु जी ने योग दीक्षा

नहीं दी थी। कृपा के लिये प्रार्थना किये जाने पर श्री प्रभु जी उन्हें यह आदेश दिया करते थे कि तुम भी हमारे ध्यानी बच्चों के बीच में ध्यान में बैठ जाया करो। ऐसा करने से अन्य साधकों के एकाग्र चित्त के प्रभाव से उन दोनों का चित्त भी एकाग्र होने लगा था और कई प्रकार की दिव्यानुभूतियाँ उन्हें होने लगी थी। अस्तु। साधकों के साथ सत्संग के साथ–साथ साधक को शास्त्राध्ययन भी करते रहना चाहिये। ऐसा करने से भी साधना के सहयोगी संस्कार दृढ़ होने लगते हैं। सद्गुरु मुख से श्रुतवचन, शास्त्र प्रमाण एवं अपनी निजानुभूति इन तीनों की एकता से जो अभ्यास बनता है वह दृढ़भूमि वाला अभ्यास होता है। यही साधना का भी क्रम है। योग की उच्चावस्था को प्राप्त करने के लिये व ऋतम्भरा प्रज्ञा को दृढ़ करने के लिये योगदर्शन के भाष्यकार भगवान व्यासदेव जी महाराज ने तीन ठोस उपाय बताये हैं जो इसी क्रम का संकेत करते हैं। उनके वचन हैं—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास रसेन च
त्रिधा प्रकल्पयन प्रज्ञा लभते योग मुत्तमम्।

आगम से अर्थात् गुरु मुख से सुना उपदेश से, अनुमान ज्ञान से, तथा ध्यानाभ्यास के रस से ऋतम्भरा प्रज्ञा को पुष्ट करता हुआ योगी योग की सर्वोच्च अवस्था को पा जाया करता है। शास्त्राधीन ज्ञान एवं श्रुत ज्ञान भी अनुमान ज्ञान ही है। पूर्व में किये गये अभ्यास के अनुभव से जो संस्कार या तत्व निर्णय बनता है वह अनुमान प्रमाण का आधार होता है। इस प्रकार से अनुमान प्रमाण के संस्कार प्रत्यक्ष प्रमाण को प्राप्त करने के लिये सहयोगी हुआ करते हैं। इस प्रकार साधक सर्वप्रथम गुरु मुख से योग तत्व का श्रवण करें इसके साथ–साथ शास्त्र का अध्ययन करके विषय की ठीक धारणा बनावें, योग की स्थितियों को अनुमान से समझे इसके पश्चात स्वयं अभ्यास करके उनका साक्षात्कार करें। इस क्रम से साधना करते हुये योगी का चित्त शुद्ध होत है। **चित्तमेकदृढाभ्यासाच्छुद्धिर्भवति चेतस:**' इस प्रकार से एक ही तत्व का चिन्तन रूपी अभ्यास दीर्घकाल तक करने से चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि हो जाने पर ही ऋतम्भरा का ज्ञान चित्त में स्वतः ही प्रस्फुटित होता है। अस्तु।

योग मार्ग के विघ्न के रूप में '**स्त्यान**' की बात कही जा रही थी जिससे चित्त की अकर्मण्यता का प्रधान कारण चित्त में योग के दृढ़ संस्कारों का अभाव ही माना गया था। योगज संस्कारों को दृढ़ बनाने के उपाय के रूप में नाना उपायों का वर्णन किया गया जिनमें सबसे आवश्यक व महत्वपूर्ण महापुरुष का चरण शरण ही निश्चित रूप से लक्ष्य की ओर गतिमान बनाने के लिये सुनिश्चित किया गया। सिद्ध गुरु की कृपा एवं संकल्प से साधक की साधना ठीक चला करती है। महापुरुष के चरण शरण पहुँचने से मन्द से मन्द संस्कार भी उज्जवल संस्कार के रूप में बदल जाया करते हैं।

'**ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति:**' भगवान सदाशिव के इस वचन के अनुसार गुरुदेव का ध्यान करने से उनकी सेवा से योग मार्ग के समस्त विघ्न दूर हो जाया करते हैं। **तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यास:**' इस सूत्र की व्याख्या करते

हुये पूज्यपाद गुरुदेव अपने मुखारविन्द से बताया करते थे कि एकतत्व का अभ्यास करने से पर तत्व का—मूल तत्व का अर्थात् सद्गुरु तत्व का चिन्तन करने से योग मार्ग के सारे विघ्न नष्ट हो जाया करते हैं। **नास्ति तत्वं गुरोः परम्**' गुरु तत्व से आगे कोई तत्व नहीं है यह गुरु गीता के पवित्र वचन हैं। महापुरुषों—सिद्ध योगियों से सेवित सिद्ध पीठ के दर्शन से वहाँ बैठकर ध्यानाभ्यास करने से, महापुरुषों के दिव्य जीवन चरित्रों को पढ़ने सुनने से योग के कृश संस्कार प्रबल व दृढ़ हो जाया करते हैं।

चित्त की अकर्मण्यता को दूर करने के लिये वेदान्तादि शास्त्रों में मनन पर बहुत बल दिया गया है। मनन का अर्थ है बार—बार सत्य का—तत्व का विचार करना। साधक को संसार के प्रतिक्षण बदलते हुये परिणामों पर विचार करना चाहिये। प्रतिक्षण सावधान होकर संसार की असारता पर विचार करना चाहिये। योग साधक को यह विचारते रहना चाहिये कि मैं इस संसार में भीषण अंगारे से झुलसते हुये व्यक्ति के समान संसाराग्नि में संतप्त हो रहा हूँ। प्रभु कृपा से मानवदेह मिल गया है अब योग साधना करके संसार सागर से पार हो जाऊँ। इस प्रकार से विचार करते हुये चित्त वृत्तियों की क्षण भंगुरता पर दृष्टिपात करते हुये साक्षीभाव से संसार में व्यवहार करे। '**सर्वमेव दुःख विवेकिनः**' संसार में मिलने वाले सुख को यदि सुख दुःख की तराजू में तौला जाये तो सुख व पलड़ा बहुत हल्का तथा दुःख का पलड़ा बहुत भारी रहता है। इसलिये तत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले पुरुषार्थ को छोड़कर संसारिक सुखों की ओर दौड़ना मूर्खता का काम है। वह व्यक्ति अज्ञ कहलाता है। तथा '**अज्ञश्च अश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति**' भगवान के इस वचन के अनुसार, संशय वाला अश्रद्धालु तथा अज्ञ व्यक्ति का संसार में पतन हो जाया करता है।

शास्त्रों में साधक के जीवन में आने वाले दोषों में एक तुष्टि नामक दोष भी कहा गया है। इस दोष के आ जाने पर साधक अपने मन को झूठे आश्वासनों से आश्वस्त कर लिया करता है। वह सोचता है समय आने पर अपने आप ध्यान लग जायेगा अथवा भाग्य से ही संसार में सब कुछ प्राप्त होता है। भाग्य होगा तो ध्यान लग जायेगा अथवा मुझे गुरुदेव मिल गये हैं अब तो मुक्त ही हो गया आदि आदि। इस प्रकार से सोचते हुये वह साधना से उपराम रहता है। कुछ साधक कहा करते हैं कि हमने तो प्रभु जी को सब कुछ समर्पित कर दिया है अब हमे ध्यानादि करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन उन लोगों का यह समर्पण वाणी का समर्पण होता है यथार्थ समर्पण नहीं। कुछ लोग यह समझ लेते हैं हमने घर—बार छोड़ दिया है हम साधु रूप में हो गये है अब हमारा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रहा अब हम मुक्त हो गये हैं। किन्तु उन्हें यह ध्यान रखना चाहिये '**न लिंगम् ज्ञान कारणम्**' वेश—भूषा ज्ञान का कारण नहीं हुआ करता है। वस्तुतः यह बिल्कुल निश्चित सत्य है कि मनुष्य को जब तक तत्व ज्ञान नहीं होता वह अज्ञान के दायरे में ही पड़ा हुआ होता है और जब तक अज्ञान है तब तक जीव कदापि सुखी नहीं हो सकता। वस्तुतः अज्ञान ही दुःख है और ज्ञान सुख। बिना साधना किये ध्यान किये तत्व ज्ञान नहीं हुआ करता। पूज्यपाद गुरुदेव जी अपने बच्चों से कहा करते थे कि इस जीवन में कम से कम साधना करके इतना तो जान ही लो कि हम पहले जन्मों

में क्या थे। अपने पूर्वापर जन्मों को जान लो—अर्न्तदृष्टि प्राप्त कर लो। इस स्थिति में यदि शरीर छूट भी जायेगा तो तुम्हे पुनः मनुष्य देह मिलेगा। तब तुम भव प्रत्यय वाले योगाभ्यास में लग जाओगे। मनुष्य जब तक ऋतम्भरा प्रज्ञा अथवा विवेक ख्याति पर प्रतिष्ठित नहीं होता तब तक मुक्त नहीं हुआ करता। ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार जन्म—मरण देने वाले सभी संस्कारों के विरोधी होते हैं। इसलिये वे संस्कार ऐसे सभी संस्कार मूलक संस्कारों की धारा पर रोक लगा देते हैं।

साधना करते—करते साधकों को कभी—कभी ऋतम्भरा के संस्कार भी उदित हो जाया करते हैं किन्तु यह स्थिति पूर्णतया उनके आधीन नहीं रहा करती। यह गुरु कृपा का सद्यः फल होता है साधना में अनेक अन्तराय आ जाने पर साधक इस स्थिति से भी च्युत हो जाया करता है। ऋतम्भरा के प्रारम्भिक अवस्था का उदाहरण देते हुये पूज्यपाद गुरुदेव जी कभी—कभी रघुनन्दन प्रसाद (फिरोजाबाद) का जिक्र किया करते थे उन्हें भी दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई थी किन्तु यह स्थिति उनके आधीन नहीं रही। यह तो गुरु कृपा एवं सानिध्य का अनुपम फल था। गुरु कृपा के फल स्वरूप अर्न्तदृष्टि के आधार पर रघुनन्दन प्रसाद की गाँव के लड़कों को परीक्षा में आने वाले प्रश्न—पत्र आदि बता दिया करते थे और भी कई प्रकार की मान—सम्मान बढ़ाने वाली बातों के झमेले में पड़ गये। गुरुदेव ने उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहा किन्तु वह कहने लगे आप हमारे मान —सम्मान से जलते हैं'। गुरुदेव ने नियन्त्रण करना छोड़ दिया फलस्वरूप उनकी स्थिति में गिरावट आ गई। योग सिद्धान्त के अनुसार जब तक योगी को विवेक ख्याति प्राप्त नहीं हो जाती तब तक चाहे संसार की दृष्टि में वह कितना ही बड़ा योगी क्यों न हो मुक्ति भाजन नहीं बन पाता। हमारे गुरुदेव जी के बड़े गुरु भाई ब्र. गोपालानन्द जी महाराज थे। आनन्द प्रभु जी के सामने ही उनका शरीर छूटा। एक बार अमृतसर में एक भक्त ने गोपालानन्द जी महाराज के विषय में प्रभु जी से पूछा था—श्री प्रभु जी ने बताते हुये कहा गोपालानन्द तो ब्रह्मलोक का वासी है। वहाँ सहस्रों कल्पों तक वास करेगा किन्तु एक बार उन्हें जन्म लेना पड़ेगा। पता नहीं फिर कौन गुरु मिलेंगे क्या होगा आदि आदि बातें प्रभु जी ने कही। **आब्रह्म भुवनान् लोकान् पुनरावर्तिनोऽर्जुन'** इस गीता के वचन के अनुसार ब्रह्म लोक तक के सारे लोग पुनरावर्तन वाले हैं। वहाँ तक पहुँचे हुये योगी का चित भी साधिकार माना जाता है। श्री मुल्खराज जी महाराज के विषय में भी पूज्यपाद गुरुदेव जी बताया करते थे कि वह भी ब्रह्मलोक के वासी हैं। बड़ी—बड़ी स्थितियों के महापुरुष भी मुक्ति भाजन नहीं बन पाते हैं। जब तक विवेक ख्याति की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं होती कैवल्यलाभ नहीं हो पाता।

अतः यदि साधक योग मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो उसे **स्त्यान** नामक इस चित्त की अकर्मण्यता रूप दोष को दूर करने का हर संभव प्रयास करना चाहिये ताकि उसकी साधना निर्बाध गति से बढ़ती चली जाये।

❋ ❋ ❋

कृष्णस्तु लीलामयः

(अनन्त श्रीविभूषित द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य
स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज)

सामान्यतया लोक में अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर समाज को अपने किसी अन्य नाम रूप तथा कर्मों का बोध कराने की प्रक्रिया को 'लीला' कहते हैं। वैसे तो 'लीला' शब्द श्लेषण—अर्थ में पठित 'लीङ्' (लीङ् श्लेषणे) धातु के साथ 'क्विप्' प्रत्यय करने पर और आदान—अर्थ में पठित 'ला' (ला आदेने) इस धातु से 'क' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है— खेल क्रीडा, आनन्द, विनोद स्वेच्छाचारिता, रतिक्रीड़ा, सुविधा, बाल क्रीड़ा आभास एवं हाव—भाव आदि जिस समय जिस पात्र का रूप धारण करके व्यक्ति लीला करते हैं। उस समय समाज द्वारा वह व्यक्ति उसी पात्र के रूप में देखा समझा जाता है। नट—नटी अथवा अन्य किसी पात्र का वास्तविक रूप नहीं जान पाता है। जो यवनिका के अन्तर्गर्भ में प्रवेश करता है अथवा अपनी वास्तविकता को वे नट—नटी ही स्वयं जानते हैं, अन्य कोई नहीं यदि ऐसा न हो तो नाटक के रसका बोध सामान्य जन को हो ही नहीं सकता। वस्तुतः यह सारा संसार भ्रम है। सच्चिदानन्द धन परमेश्वर का अंशभूत यह जीव अलग—अलग शरीर धारण करके विविध पात्रों के रूप में अपने वास्तविक रूप से अलग हटकर नामरूपात्मक अभिनय कर रहा है।

इसी प्रकार अशरणशरण अकारण करूणावरूणालय आनन्दकन्द सच्चिदानन्द परब्रह्म भी अनित्य भ्रमात्मक विश्वरूपी रंगमंच पर लोकहित हेतु अपने विविध नाम रूपों से नित्य लीलाएँ करते रहते हैं। किन्तु इनके वास्तविक स्वरूप को माया रूपी यवनिकाके कारण हमारी सामान्य इन्द्रियाँ न देख पाती हैं और न समझ पाती हैं। ज्ञान भक्ति, कर्म ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, स्नेह, सौहार्द एवं सौष्ठवकी मूर्ति, रसस्वरूप, निखिल—ब्रह्माण्ड नियन्ता भगवान् की लीलाएँ अनेकानेक अवतारों के रूप में इस धराधाम के निवासियों को देखने को मिलती रहती हैं। सज्जनों की रक्षा, दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना, अधर्म का उन्मूलन एवं प्रेम और सौमनस्य की स्निग्ध—स्नेहिल धाराको प्रवाहित करने के लिए भगवान कभी मत्स्य, वराह, नृसिंह तथा कच्छप बनते हैं तो कभी राम, कृष्ण अथवा परशुराम। भारतीय चिन्तन—परम्परा के विद्वद्—धुरीण मनीषियों का मत है कि भगवान के जो अनेक अवतार हैं, वे अलग—अलग कलाओं के हैं, किंतु श्री कृष्णावतार पूर्ण कला का अवतार है। क्योंकि **'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्।'** कंस के कारागार में जन्म के समय प्रहरियों का सो जाना वसुदेव द्वारा नवजात शिशुको नन्दबाबा के घर पहुँचाना, मार्ग में शिशु श्री कृष्ण के अंगुष्ठसंस्पर्श से यमुनाजल का शान्त होना बाद में खेलते—खेलते अपना अंगूठा पीना, शकटासुर—तृणावृत और पूतना राक्षसी को दण्ड देना। माखन चोरी गोचारण, कालिय नाग का विनाश, कंसमर्दन, रासलीला, गोपीप्रेम, राधाप्रेम, ग्वालबालोंकी मैत्री, मथुरागमन,

कालयवन जरासन्ध प्रभृतिका संहार, ब्राह्मण–सम्मान, राजदूत की भूमिका कुरुक्षेत्र को रणभूमि में महाभारत–युद्ध का संचालन, सारथी का कर्म, कौरव संहार, उतक ऋषि से वार्ता, द्वारकागमन, फिर प्रभासगमन यदुकुलका संहार तथा अन्त में भगवान के स्वधाम– गमन आदि लीलाएं इतनी महत्वपूर्ण हैं कि सामान्य दृष्टि में श्री कृष्ण चन्द्र संसार के साथ बिलकुल बंधे–बंधे से दिखाई पड़ते हैं। उनकी बाल क्रीड़ा की एक झांकी देखें–

विहाय पीयूषरसं मुनीश्वरा:
ममांघ्रिराजीवरसं पिबन्ति किम्।
इति स्वपादाम्बुजपान कौतुकी।
स गोपबाल: श्रियतामातनोतु व:।

अर्थात्– बालकृष्ण अपने अंगूठे को पीने के पहले यह सोचते हैं कि क्या कारण है कि बड़े–बड़े ऋषि महर्षि अमृतरस को छोड़कर मेरे पादारविन्दरस का पान करते हैं। क्या वह अमृत से ज्यादा स्वादिष्ट है। इसी बात की परीक्षा के लिये शिशु कृष्ण निज–पद–पान–रूपी लीला किया करते हैं इसी प्रकार रासलीला का वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं।

रासोत्सव: सम्प्रवृत्तो गोपीमन्डल मण्डित:।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयो:।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रिय:।

तात्पर्य यह कि दो–दो गोपियों के मध्य में एक–एक श्री कृष्ण दीखते थे तथा हर गोपी ब्रजनन्दन को अपने समीपस्थ समझती थी। मण्डलाकार खड़ी गोपियों के साथ श्री कृष्ण ने नृत्य किया था इस संदर्भ में पद्मपुराण कारका मत है कि त्रेता के जिन ऋषियों की इच्छा राम के साथ रहने की थी वे सभी द्वापर में गोपी बन गये। अन्यत्र गोपियों को श्रुतियाँ तथा देवकन्याएं आदि कहा गया है यथा–

पुरा महर्षय: सर्वे दण्डकारण्यवासिन:
दृष्टवा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन सुविग्रहम्
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्ना समुद्भूताश्च गोकुले।
तथा गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेय ऋषिना गोपकन्यका:
देव कन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्य: कथं चन।।

परमार्थत: भगवान श्री कृष्ण पद्मपत्रमिवाम्भसा संसार से पूर्णत: निर्लिप्त हैं। वे दुनियाँ के सभी अनुबन्धों से ऊपर शुद्ध बुद्ध–मुक्त–चैतन्य हैं। वे अपने विराट् स्वरूप के कारण महान से महतम और परमाणु से भी लघुतम हैं। वे असंख्यासंख्य ग्राहों से आक्रान्त भक्त–गजराजों के रक्षक हैं। और असहाय–दीन–आर्त भारतीय नारी की अस्मितालज्जा और गोरख को बचाने वाले भी हैं। वे एक ओर अपनी वंशीकी सुरीली तान

पर समग्र गोपाङ्गनाओं के चित्तापहारक हैं। तो दूसरी ओर निखिल विश्व के सबसे बड़े समरके दिशा—निर्देशक भी है। जिनके रोम—रोम में कोटि—कोटि ब्रह्माण्ड समाहित है। भव भय हारी, विपिन विहारी, मुरारी, बनवारी, नित्यलीलारस धारी, गोपी वल्लभ, यशोदानन्दवर्धन, ब्रजनन्दन का चरित्र एक सम्पूर्णता का द्योतक है। उसके कोई खण्ड—भाव हो ही नहीं सकता। क्योंकि भगवान पूर्ण पुरुषोत्तम है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

भगवान् श्री कृष्ण का चरित्र विश्व—चिन्तन का आदर्श—बिन्दु है। निरुक्तकार कहते हैं कि—**'भगइति ऐश्वर्य नाम तद्वान् भगवान इति'**— अर्थात् समस्त विश्वका सर्वविध ऐश्वर्य जिसके भीतर समाहित है तथा जो ज्ञान—विज्ञान, भूत—भविष्यत्—वर्तमान, सत्व—रजत्—तमस्, जड़—चेतनात्मक समूची सृष्टिका जनक है और निखिल ब्रह्माण्ड की समस्त लीलाएँ जिसके भ्रूभंगमात्र से संचालित होती हैं एवं जो केवल भक्तों की पूर्ण निष्ठा, भक्ति तथा उनके प्रेम और समर्पण से ही बँधता है। ऐसे भगवान् की भक्ति में पगे रसखान कविकी प्रस्तुत पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—नारद, शुकदेव, व्यास, शेषनाग, शिव, गणेश, सविता एवं इन्द्र आदि देवता सतत उपासना के बावजूद जिनका अन्त न पा सके, जिन्हें अपना न बना सके ऐसे सृष्टि—नियामक बृजवल्लभ को गोपी की सामान्य कन्याएँ थोड़े से छाछपर यथेच्छ नाच नचाती रहती हैं। भक्त की पुकार सुन लीला नायक कभी गोवर्धन धारण करते हैं कभी कुब्जा को सुन्दर बनाते हैं, कभी दावानल का पान करते हैं तो कभी लौह—खम्भ को चीरकर प्रकट हो भक्त की रक्षा करते हैं। गोपियों के लिए प्राणप्रिये तथा ऊद्धव और श्री दामाके लिए मित्र, नन्द—यशोदा के लिए पुत्र, रुक्मिणी के लिए पति राधा के लिए प्रेमी सामान्यजन के लिए गोप—किशोर इन्द्र के लिए विश्वव्यापी आत्मा, देवों के लिए आनन्ददाता, स्त्रियों के लिए रति—पति तथा मुष्टिक चाणूर एवं कंस के लिए वे साक्षात् कालस्वरूप दीखते हैं कंसकी सभा में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है।—

मल्लैः शैलेन्द्र कल्पः शिशुराखिल जनैः
पुष्प चापोऽङ्गनाभिः.........................

आदर्श कर्मयोगी विश्वमंगलरूप, सेवाधर्मव्रती, समदर्शी तथा आदर्श गृहस्थ मुरलीधर के वंशीकी ध्वनि सुनकर सम्पूर्ण व्रज ही नहीं, सारा त्रैलोक्य भी मुग्ध हो जाता है इसीलिए रस खान ने कहा—

कौन ठगौरी भरी हरि आजु
बजाई है बासुरिया रंग—भीनी।
तान सुनी जिनही तिनही
तबही तित लाज बिदा करि दीनी।।
घूमे घरी घरी नंद के द्वार।
नवीनी कहा कहूँ बाल प्रवीनी।।

या ब्रजमण्डल में रसखानि।

सु कौन भट्ु जू लट् नहि कीनी।।

सर्वतोभावेन न केवल मधुर बल्कि जो मधुराधिप हैं– ऐसे नन्दनन्दनकी लीला विश्वकल्याण की पथप्रदर्शिका है, मानव–जीवन की समग्र समस्याओं का समाधान है। अपने–अपने जीवन को सार्थक बनाने की सफल कुंजी, मोक्ष–प्राप्ति का निर्विघ्न सुगम राजमार्ग, अखण्ड तपश्चर्यासे पवित्रीकृत सहृदय–हृदय की परमपूत सद्भावना एवं **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** की संवाहिका है। वस्तुतस्तु उनके असंख्य नाम हैं। और नामानुरूप उनकी अगणित लीलाएँ है। जिनकी उपस्थापना में शब्दों की सामर्थ्य भी कुण्ठित हो जाती है। इसीलिए तो उपनिषत्कार कहते हैं कि–

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि भगवतलीला विशिष्टातिविशिष्ट है; क्योंकि जो उनके शत्रु जैसे दीखते हैं, उन्हें भी भगवान मुक्ति प्रदान करते है। वे अजातशत्रु हैं। जो मुक्ति ऋषि–मुनियों को अपने जन्म जन्मान्तरीय विकट साधना के बावजूद दुर्लभ हैं, वह उनका शत्रुभाव से भजन करने वालों के लिए सहज सुलभ है। मात्र नामानुकीर्तन करने वाले आजन्मपात की अजामिल तक को उन्होंने परमधाम प्रदान किया। भागवत (१२/४) में महर्षि वेदव्यास का कहना है कि भगवान श्री कृष्ण चन्द्र की लीला संसार सागर में विद्यमान है, विविध दुःखों के भयावह अग्नि से जलते हुये जीव के पार जाने और शान्ति के लिए एकमेव सफल नौका है।

सुर मुनि दुर्लभ मुक्ति की विधायिका तथा मंगल रूपात्मिका भगवत–लीला का रसास्वाद जिसे मिल गया, वह सम्पूर्ण सुख–दुःख, इच्छा–अनिच्छा, कर्माकर्म एवं स्व पर की भावना से ऊपर आत्माराममय हो जाता है।

वह जन्म–मरण के बन्धन से सदा–सदा के लिये छूट जाता है। भागवतकार के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि–

तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममगलम्।

कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहां जनः।

इस प्रकार गीता हो या महाभारत, भागवत हो या अन्य पुराण, वेद हो या उपनिषद् सम्पूर्ण वाङ्मय भगवत् लीला का ही शब्दिक स्वरूप है। जिसके प्रति हृदय से समर्पित होकर कोई भी प्राणी आवागमन से मुक्त हो जाता है।

भागवल्लीमृतं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।

❋ ❋ ❋

"सद्गुरु कृपा बिना योग सम्भव नहीं"

लेखक : डा० स्वामी केशवाचार्य, बड़ौदा

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते।
योगारुढ़स्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते।।

(गीता ६—३)

अर्थात् अष्टांग योग के नव साधक के लिए कर्म साधन कहलाता है। और योग साधक पुरुष के लिए समस्त भौतिक कार्य कलापों का परित्याग ही साधन कहा जाता है।

परम प्रभु परमात्मा से युक्त होने की विधि योग कहलाती है। इसकी तुलना उस सीढ़ी से की जा सकती है जिससे सर्वोच्च आध्यात्मिक योग सिद्धि प्राप्त की जाती है। यह सीढ़ी जीव के जीवन की निम्न अवस्था से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक जीवन के पूर्ण आत्म साक्षात्कार तक जाती है। विभिन्न चढ़ाव इस सीढ़ी के विभिन्न भाग भिन्न—भिन्न नामों से जाने जाते हैं। किन्तु कुल मिलाकर यह पूरी सीढ़ी योग कहलाती है और इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है— ज्ञानयोग, ध्यानयोग, तथा भक्तियोग। जहाँ तक अष्टांग योग का सम्बन्ध है विभिन्न यम नियमों तथा आसनों (जो प्रायः शारीरिक मुद्रायें ही हैं) के द्वारा ध्यान में प्रविष्ट होने के लिए आरम्भिक प्रयासों को सकाम कर्म माना जाता है। ऐसे कर्मों से पूर्ण मानसिक सन्तुलन प्राप्त होता है, जिससे इन्द्रियाँ वश में होती है।

''वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता''

(गीता २—६१)

और जिनकी सारी इन्द्रियाँ वश में होती है उन्हीं की प्रज्ञा प्रतिष्ठित (बुद्धि स्थिर) रहती है।

किन्तु ऐसा सद्गुरु की कृपा से ही सम्भव है। श्री सद्गुरु कृपा से ही कृपाश्रित रहकर समस्त इन्द्रियाँ वश में की जा सकती हैं। और बुद्धि प्रतिष्ठित रह सकती है। क्योंकि—

''यह गुण साधन ते नहिं होई
सद्गुरु कृपा पाव कोई कोई''।।

(मानस)

इन प्रमाणों से प्रमाणित होता है। कि श्री सद्गुरु कृपा से ही जीव परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है जब जीव सद्गुरु कृपा प्राप्त कर लेता है, तो वही जीव समस्त योगों की सिद्धियों को प्राप्त करते हुए समस्त

कार्य कलापों को करते हुए भी अलिप्त रहता है। क्योंकि समस्त योग सिद्धियों को प्राप्त करते हुए वह परमलक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। और ऐसा कोई विरला ही कर पाता है।

''मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।''

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।''

(गीता ७–३)

कई हजार मनुष्यों में से कोई एक योगसिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है। और इस तरह योग सिद्धि प्राप्त करने वालों में से कोई (सद्गुरु कृपा प्राप्त) परम प्रभु परमात्मा स्वरूप श्री सद्गुरु को प्राप्त कर सकता है या पाता है। समस्त योग सिद्धियों को प्राप्त कर लेने के बाद भी जीव (योगी) के द्वारा जो भी कर्म होता है वह केवल बाह्य शुद्धि के लिए ही होता है। जीव समस्त कर्म करते हुए योग सिद्धि प्राप्त करते हुए इस संसार में भी मुक्त रहता है, भले ही वह तथा–कथित अनेक भौतिक कार्य कलापों में व्यस्त क्यों न रहे। उसमें अहंकार (दम्भ) नहीं रहता क्योंकि सद्गुरु कृपा द्वारा ही योग सिद्धि प्राप्त होती है। इसी का परिणाम होता है कि जीवन में रहते हुए अर्थात संसार (शरीर) में रहते हुए संसार से मुक्त हो जाता है। ऐसा जीवन मुक्त सिद्ध योगी पुरुष सदैव परम पुरुष परब्रह्म स्वरूप में लीन रहा करता है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि कोई भी तत्व ज्ञानी जीवन मुक्त सिद्ध योगी पुरुष सांसारिक समस्त कार्यों को सम्पादित करते हुए परम पुरुष ब्रह्म में लीन कैसे रह सकता है जैसे–एक महिला जल भरकर अपने सिर पर एक नहीं अपितु चार–चार घड़ों को रख कर चलती है और अपनी सखियों से बातें भी करती चलती है किन्तु उसका ध्यान अपने सिर पर जल सहित घड़ों पर ही रहता है। ठीक उसी तरह स्वयं सिद्ध योगी की जगत के समस्त क्रियाओं को सम्पादित करते हुए पारब्रह्म परमेश्वर में, दृष्टि (ध्यान) लगी रहती है। आत्म तत्व ज्ञान से ही ऐसे पूर्ण सिद्ध योगी दर्शन देते हैं। अष्टांग योग एक साधन है, साध्य तो परम प्रभु परमात्मा स्वरूप श्री सद्गुरुदेव के चरण कमल ही है। और भगवान पातंजलि योग दर्शन का सूत्र ''**योगश्चित्त वृत्ति निरोधः**'' तभी सिद्ध होता है जब योगियों के भी महा योगिराज भगवान श्री सद्गुरुदेव की कृपा प्राप्त हो जाय। बिना सद्गुरु कृपा के अष्टांग योग भी नहीं सम्भव हो सकता है। जब अनेक जन्मार्जित पुण्यों का उदयन होता है तो सद्गुरु प्राप्त होते हैं और अष्टांग योग के द्वारा शुद्ध कर के अधिकारी बनाकर पूर्ण पुरुष परमात्मा में लय करा देते हैं। परम धाम में पहुँचा देते हैं, जहाँ से पुनः–

''यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरमं मम्''

कभी वापस आना सम्भव (शक्य) नहीं है। इसलिए गुरु कृपाश्रित योग ही शुद्ध योग है। अतः सद्गुरु कृपा ही जीवन का प्रथम लक्ष्य होना चाहिए जिससे वह जीवन धन्य हो सके। मुक्ति मिल सके। अस्तु।।

❋ ❋ ❋

आत्मा का स्वास्थ्य है समाधि

आचार्य रजनीश

समाधि अनुभव की बात है। कहने से समझ न आएगी।

'समाधि' शब्द बना है, 'समाधान' से। शब्द का अर्थ है: जहाँ सब समाधान हो गया, जहाँ कोई समस्या न रही, जहां कोई प्रश्न न बचा, जहाँ कोई खोज बाकी न रही, न कोई तृष्णा, न कोई आकांक्षा, न कोई दौड़, जहाँ कोई भविष्य न बचा। जहाँ समय ही न रहा, उस अवस्था का नाम समाधि है। जहाँ सब स्थिर हो गया, निष्कंप हो गया।

जैसे दीये की ज्योति जलती हो ऐसे घर में, जहां हवा का झोंका न आ सके, निष्कंप जलती हो, जरा भी कंपती न हो— ऐसे जब तुम्हारी चेतना की ज्योति जलती है निष्कंप, जहाँ विचार के झोंके नहीं आते, जहाँ विचार की तरंगे नहीं आतीं, उस दशा का नाम समाधि है।

समाधि परम रस है। समाधि में हो जाना संगीतपूर्ण हो जाना है।

समाधि का अर्थ है : द्वन्द्व न रहा, द्वैत न रहा, तनाव न रहा, चिन्ता न रही।

समाधि का अर्थ है : जान लिया, पहचान लिया, अनुभव कर लिया— उसका जो शाश्वत है, उसका, जो अमृत है।

मगर जानोगे तो ही जानोगे। इसलिए बजाय समाधि के संबंध में समझने के ध्यान के संबंध में समझना चाहिए, क्योंकि ध्यान प्रक्रिया है जो समाधि पर ले जाती है। ध्यान औषधि है जो बीमारी को काट देती है। और जब बीमारी कट जाती है, तो शेष रह जाता है वही स्वास्थ्य है।

स्वास्थ्य की कोई परिभाषा नहीं है। इतने शास्त्र लिखे गये हैं स्वास्थ्य पर, स्वास्थ्य की कोई परिभाषा नहीं है। यह शब्द बड़ा प्यारा है। स्वास्थ्य का अर्थ होता है : स्वयं में स्थित हो जाना, यह समाधि की ही बात हो गई। जिसके भीतर कुछ तनाव है वह स्वयं में स्थित नहीं हो पाता।

तुमने ख्याल किया ? पैर में कांटा गड़ा हो, तो सारा ध्यान वहीं—वहीं जाता है, कांटे की तरफ जाता है। तुम अपने में ठहर नहीं पाते। सिर में दर्द हो तो ध्यान सिर की तरफ जाता है। जब कहीं कोई पीड़ा न हो तो ध्यान कहीं नहीं जाता, अपने में ठहर जाता है तो पक्षी अपने नीड़ में बैठ जाता है।

स्वास्थ्य का अर्थ हुआ : अब ध्यान को कहीं जाने की कोई जरूरत न रही। ध्यान जाता ही दुख के कारण है, पीड़ा के कारण है। जब कहीं कोई पीड़ा नहीं है, तो ध्यान अब कहां जाए ? अब इस पक्षी को जाने के लिए कोई उपाय न रहा। यह अपने पंखों में दुबक कर भीतर बैठ जाता है, शांत हो जाता है। स्वास्थ्य है ऐसी स्थिति।

समाधि स्वास्थ्य की ही अंतिम अवस्था है। शरीर के संबंध में ऐसी स्थिति आ जाए तो स्वास्थ्य। आत्मा के संबंध में ऐसी स्थिति आ जाए तो समाधि।

अंग्रेजी का शब्द 'हैल्थ' भी सुन्दर है वह आता है 'होल' से, पूर्ण से। जो पूर्ण हो गया, वह स्वस्थ हो गया। जब तक अपूर्णता है, तब तक अस्वास्थ्य है। जब कोई पूर्णता को उपलब्ध हो जाता है तो स्वस्थ हो जाता है। जब शरीर पूर्ण होता है तो स्वस्थ। और जब आत्मा भी पूर्ण होती है तो समाधि।

समाधि ऐसी दशा है, जहाँ कुछ भी शेष नहीं रह जाता— जहाँ कोई विषय शेष नहीं रह जाता, जहाँ देखने को कुछ शेष नहीं रह जाता। दृष्टि शुद्ध हो जाती है दर्शन दर्पण की भाँति होता है। और कोई प्रतिफलन नहीं होता। उस परम शांति में चांद–तारे भी नहीं हैं, सूरज भी नहीं है। रोशनी भी नहीं है, तो अंधेरे की तो बात ही क्या, इसे समझना।

तुम कहोगे : यह तो बड़ी अजीब बात हुई। हम तो सोचते थे, जब समाधि होगी तो रोशनी ही रोशनी हो जाएगी। लेकिन रोशनी तो वहीं हो सकती है जहाँ अंधेरा हो। जहाँ अंधेरा ही नहीं है, वहाँ रोशनी भी नहीं हो सकती। रोशनी और अंधेरा तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, वे साथ ही साथ हैं।

समाधि ऐसी दशा है, जहाँ अंधेरे की तो क्या कहो, रोशनी भी खो जाती है। मौत की तो क्या कहो, जीवन भी खो जाता है। दुख की तो क्या कहो, सुख भी खो जाता है। क्योंकि ये सब साथ जुड़े हैं—दुख—सुख, अंधेरा—रोशनी, जीवन—मृत्यु। ये सब जुड़े हैं। ये अलग—अलग नहीं हैं। इनमें से एक बचेगा तो दूसरा किनारे पर खड़ा रहेगा। अगर रोशनी होगी तो अंधेरा उसकी सीमा बनाएगा। अगर सुख होगा तो दुख किनारे पर मौजूद रहेगा, प्रतीक्षा करेगा कि कब उसे अवसर मिले तुम्हारी छाती पर सवार हो जाने का। द्वन्द्व ही खो जाता है तब समाधि है।

समाधि है ऐसी दशा जहाँ एक रिक्तता है सब शून्य हो जाता है असीम शून्य है, जिसकी कोई सीमा नहीं। और जहाँ माया की सब तरंगे अस्तित्व में सो गयी हैं। तुम्हारी दशा इससे उल्टी है। उसे पहले समझो, तो समाधि समझ में आए। मन में तरंगे उठ रही है। साधारणतः यही तुम्हारी अवस्था है तरंगों पर तरंगें। कभी मन खाली नहीं होता। आती हैं चली जाती हैं। एक बाढ़ है विचारों की—अंतहीन बाढ़ है। एक क्षण को भी मन खाली नहीं होता। असीम रिक्तता को तो क्या समझोगे, जब एक क्षण भी रिक्तता नहीं आती। उठते—बैठते, सोते—जागते चल रहे विचार, चल रहे विचार। रास्ता कभी खाली ही नहीं होता। ट्रैफिक चलता ही रहता है। कभी दुख, कभी सुख। कभी सफलता, कभी असफलता। कभी क्रोध, कभी प्रेम। मगर चलता ही रहता है। भीड़ चलती ही रहती है, गुजरती ही रहती है। और जब तक यह रास्ता चलता रहता है, यह भीड़ चलती रहती है विचारों की, तब तक अहंकार बना रहता है। अहंकार तुम्हारे विचारों के जोड़ का ही नाम है। अहंकार तुम्हारी सारी बीमारियों का जोड़ है।

समाधि में न विचार होंगे, न अहंकार होगा। इतना कहा जा सकता है कि समाधि में क्या नहीं होगा। क्या होगा, शायद नहीं कहा जा सकता, लेकिन क्या नहीं होगा, यह निश्चित कहा जा सकता है। विचार नहीं होंगे। यह भीड़—भाड़ नहीं होगी जो तुम्हारे मन में मची है। और अहंकार नहीं होगा, क्योंकि इसी के जोड़ का नाम अहंकार है। तुम्हारी सारी बीमारियाँ, इन सबका इकट्ठा नाम अहंकार है।

और जब सारे विचार चले जाते हैं, और सारी तरंगें खो जाती हैं, तब भी थोड़ी देर को अहंकार टिका रहता है। ऐसे ही जैसे तुम साइकिलें चलाते हो तो पैडल मारना पड़ता है, फिर दो–चार मील पैडल मारने के बाद अगर तुमने पैडल चलाना बंद भी कर दिया, तो भी साइकिल थोड़ी दूर चल जाएगी— पुरानी गति के आधार पर। एकदम नहीं रुक जाएगी, दस–पाँच कदम चल जाएगी। और अगर उतार हो तो थोड़ी ज्यादा भी चल सकती है। पैडल तो रुक जाएंगे पहले, फिर थोड़ी देर बाद साइकिल रुकेगी। ऐसा ही अहंकार है। विचार तो पहले रुक जाएंगे, लेकिन सूक्ष्म अहंकार, थोड़े दिन तक तरंगें मारता रहेगा। पुरानी आदत के वश।

और जब समाधि करीब आती है, तो जो घटना घटती है—वह यह कि अचानक अहंकार की लहर भी रुक जाती है। अचानक तुम पाते हो कि तुम हो और 'मैं' का कोई भाव नहीं। मैं गया। होना तो यह है, लेकिन मैं का भाव नहीं रहा। अस्तित्व शुद्ध हो गया।

समाधि की परिभाषा है— शून्य से शून्य गले मिल रहा है। दो शून्य गले मिल रहे हैं। तुम शून्य हो गये और परमात्मा तो सदा से शून्य है। और तुम जब शून्य हो जाओगे, तभी परमात्मा के शून्य से मिल सकोगे। क्योंकि उस जैसे हो जाओगे तो ही उससे मिल सकोगे। जब तक तुम हो, तब तक बाधा है जब तक तुम हो तब तक मिलन नहीं। जब तुम बिल्कुल न रह जाओगे, तभी मिलन होगा क्योंकि न होना परमात्मा के होने का ढंग है। इसीलिए तो परमात्मा दिखायी नहीं पड़ता अनुपस्थिति उसकी उपस्थिति का ढंग है। जब तुम भी अनुपस्थित हो जाओगे, जब तुम भी परिपूर्ण शून्य हो जाओगे—तभी समाधि।

समाधि अनुभव है, अनुभूति है। लेकिन समाधि में क्या–क्या नहीं है, वह कहा जा सकता है। द्वन्द्व नहीं है, द्वैत नहीं है, विचार नहीं है, भाव नहीं है, अहंकार नहीं है। ये सब जहां नहीं हैं, फिर वहाँ पूर्ण अवतरित होता है। जब तुम शून्य हो जाते हो, तो तुम पात्र बनते हो। जब तुम खाली होते हो, तब परमात्मा प्रवेश करता है।

समाधि—तुम्हारा परमात्मा में लीन हो जाना और परमात्मा का तुममें लीन हो जाना। समाधि अपने मूल स्रोत को पा लेना है। गंगा गंगोत्री पहुँच जाए, ऐसी है समाधि। वृक्ष फिर बीज हो जाए, ऐसी है समाधि। तुम फिर परमात्मा हो जाओ। जो तुम थे मूलतः जो तुम्हारा मौलिक स्वाभाव है—फिर से तुम उसे पा लो। उसे पा लेने, उस उपलब्धि का नाम समाधि है।

समाधि यानी समाधान। सब समस्याएँ समाप्त हो गयीं।

समाधि—तुम्हारा परमात्मा में लीन हो जाना और परमात्मा का तुममें लीन हो जाना। समाधि अपने मूल स्रोत को पा लेना है। गंगा गंगोत्री पहुँच जाए, ऐसी है समाधि। वृक्ष फिर बीज हो जाए, ऐसी है समाधि। तुम फिर परमात्मा हो जाओ। जो तुम थे मूलतः, जो तुम्हारा मौलिक स्वाभाव है—फिर से तुम उसे पा लो। उसे पा लेने, उस उपलब्धि का नाम समाधि है।

***

"शक्तिपात से कुण्डलिनी जागरण"

डा० विजय सिंह (गोरखपुर)

"सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा" अथवा "सिद्धि मार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव" उपरोक्त उद्धरणों द्वारा हमारे परम प्राणधन सद्गुरु देव जी बताते रहे हैं कि सामान्य जन का योग में प्रवेश सिद्धों, योगियों की कृपा से ही सम्भव है, दूसरा कोई अन्य उपाय नहीं है। एक बार कोई साधु श्री चरणों में आया व पूछा कि आपके किन–किन शिष्यों की कुण्डलनी जाग्रत है। श्री प्रभुजी ने उससे कहा कि यह बात तुम कैसे जान सकोगे हमारे सभी शिष्यों की कुण्डलनी जाग्रत है। उसी क्षण पास ही बैठी एक महिला का अचानक भस्त्रिका प्राणायाम होने लगा तथा दादुरी वृति चल पड़ी। वह साधु आश्चर्य से देखता रह गया।

कुण्डलनी क्या है ? शक्तिपात का क्या प्रभाव है ? इन सभी प्रश्नों का समाधान करना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है। गुदा द्वार से दो अंगुल ऊपर एवं लिंग मूल से एक अंगुल नीचे कन्द का स्थान है। कन्द स्थान पर ही मूलाधार चक्र है और वहीं पर कुण्डलिनी की स्थिति है। यह सत्व, रज, तम की आधार भूता है। इसी के पास रक्त वर्ण तप्त स्वर्णाभ काम बीज की स्थिति है।

तत्र बन्धूक पुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम्।
कल हेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षर रूपिणम्।।
सुषुम्णापि च संश्लिष्टो बीजं तत्र वरं स्थिरम्।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्स्वयमेतत्स्फुरस्थितम्।।

जहाँ कुण्डलिनी स्थित है, वहीं सुषुम्णा है तथा काम बीज वहीं गतिमान है। यह क्रिया शक्ति और ज्ञानशक्ति से युक्त ऊपर नीचे भ्रमण करती है।

संतों का अनुभव है कि संसार में जो भी संसारी लोग अति उद्यमी एवं सफल है उनकी सफलता का मात्र कारण कुण्डलिनी का वाहय शक्ति विकरण का ही फल है। कुण्डलिनी शक्ति का संचरण सामान्यतः न्यूनाधिक संसारी लोगों में कायिक मानसिक तल को ही प्रभावित करता रहता है। अतः यह काम–शक्ति का द्योतक है। परन्तु यह उर्जा यदि आत्मा की ओर बहे तो यही महाशक्ति का रूप धारण करने वाली होती है। शरीर तल पर बहाव ही इसकी अधोगामी गमन एवं आत्मा की ओर ऊर्ध्वगामी संचरण कहा गया है। यहाँ शरीर का अर्थ स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों से समझना चाहिए। चित्–जड़ ग्रंथि तक इसका फैलाव है।

कुण्डलिनी जागृत होने पर साधक को अभ्यान्तरिक अनुभव प्रकाशित होने लगते हैं। इस शक्ति के प्रकाश में जन्म–जन्मान्तरों के अनुभव अनूठे रूप में होने लगते हैं। कभी–कभी साधक इन अनुभवों से घबड़ा उठता

है। क्योंकि कुण्डलनी के उर्ध्वगमन करने पर साधक की चेतना देशकाल के सीमाओं को तोड़कर असीम होने लगता है। ऐसे रंग दिखाई पड़ने लगेंगे ऐसी ध्वनियां सुनाई पड़ने लगेंगी, ऐसे स्पर्श और स्वाद का अनुभव होने लगेगा जिसका कभी जागृत अवस्था में कणांश भी अनुभव नहीं हुआ था। महात्मा कबीर इन्हीं अनुभवों से अनुप्राणित हो **''गगन गुफा से अमृत बरसे''** अथवा दिव्य नाद और नाना प्रकार के दिव्य प्रकाशीय रंगों की चर्चा करते हैं।

सूक्ष्म अनुभूतियों का विस्तृत लोक कुण्डलिनी के साथ जुड़ा है। यदि कहीं किसी साधक में अचानक कुण्डलिनी का जागरण हो जाये तो उसे अनुभवों के अम्बार से अर्जुन जैसी ही भय की अवस्था भी हो सकती है। भगवान श्री कृष्ण के शक्तिपात करने पर अर्जुन को जो पुरुषोत्तम स्वरूप का दर्शन हुआ उस दिव्य परन्तु महाकालस्वरूप को देखकर अर्जुन की क्या स्थिति हुई गीता के ग्यारहवें अध्याय में पठनीय है।

शक्तिपात परिपूर्ण सिद्ध गुरुओं के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। अन्यथा शक्तिपात के फलस्वरूप जागृत कुण्डलिनी से होने वाले सूक्ष्म अनुभूतियों से साधक पागल मालूम पड़ने लग सकता है। क्योंकि उसकी क्रियायें उस समय जाग्रत शक्ति के प्रभाव से होती है। अतः परिपूर्ण सद्‌गुरु हमारे क्षमता के अनुकूल शक्ति का जागरण करके उसे अपने संरक्षण में आगे बढ़ाते रहते हैं। अजपा जाप द्वारा यह शक्ति जागरण और उसके द्वारा वह चक्र भेदन की क्रिया सहज ही उन साधको को सम्भव है, जो दृढ़तापूर्वक सद्‌गुरु के बताये नियमों के अनुसार आसनजय करके ध्यानाभ्यास करते रहते हैं।

इस विज्ञान के मर्म को थोड़ा यहां समझ होना चाहिए। श्वांस–प्रश्वांस के द्वारा मन्त्र जप करने पर अन्नमय कोष शिथिल होकर तथा परिशुद्ध होकर शक्तिपात द्वारा जागृत कुण्डलिनी को उर्ध्व चक्रों की ओर प्रेरित करने लगता है। प्राण ही हमारी आत्मा और शरीर का सन्धि सेतु है। प्राण के निकलते ही शरीर शव हो जाता है। आत्मा और शरीर के मिलन का जो बिन्दु है धारण के रूप में वही कुण्डलिनी है। श्वांस–प्रश्वांस द्वारा कुण्डलिनी पर आघात होता है और ऊर्जा नाड़ियों का शोधन करते हुए विविध अनुभवों का अनुभव साधक को कराता है।

जिस व्यक्ति का जो चक्र सर्वाधिक सक्रिय है श्वांस का आघात तथा कुण्डलिनी शक्ति का केन्द्रीय करण उसी चक्र पर घटित होता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति बौद्धिक कार्य अधिक करने वाला है तो ऐसा हो सकता है कि श्वांस–प्रश्वांस की साधना के द्वारा उसका सिर एकदम भारी हो जाए। परन्तु इन अनुभवों से घबराना नहीं चाहिए। क्योंकि कुण्डलिनी जागरण का मतलब ही है व्यक्तित्व में रूपान्तरण।

कुण्डलिनी जागरण से ही इच्छा–इच्छा शक्ति क्रिया–क्रिया–शक्ति, ज्ञान–ज्ञान शक्ति में रूपान्तरित होती है। जिससे साधक को अचानक ऐसे अनुभव होते हैं कि उसने जो चाहा वही अकारण प्राप्त हो गया। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, चिद् और आनन्द का असीम विस्तार इसी महाशक्ति के जागरण से सम्भव होता है।

साधक शक्ति के फैलाव में अन्नमय कोषों का साक्षात्कार, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषों के परम बोध के साथ सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बोध को प्राप्त होता जाता है उसे अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर की प्रतीति विज्ञानमय तरीके से होती है। कुण्डलिनी की सुप्ता अवस्था (प्रतीकात्मक है कहना सुप्तावस्था) का अर्थ है देह को ही आत्मभाव से जानना। सर्व साधारण देह के ही तल पर जीते हैं। परन्तु सर्वचक्रों से भेदकर इसके सहस्त्रार में लय होने का ही नाम है— आत्म दर्शन। शरीर आत्मा का ही वह अवयव है जिनका बोध इन्द्रियों की पहुँच में है परन्तु आत्मा वह है जो इंद्रियों की पकड़ के बाहर है। अतः कुण्डलिनी के जागरण पर अतिन्द्रय बोध शुरू हो जाते हैं। दूर का सुनना, दूर का दीखना जिनमें इन स्थूल इंद्रियों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

ज्यों–ज्यों महाशक्ति कुण्डलिनी आरोहण चक्रों का भेदनकर करती जाती है। साधक असीम शक्ति का मालिक बनता जाता है। कुण्डलिनी के उपर परम दिप्तिमान काम–बीज भ्रमण करता है। जो साधक इस कमल का ध्यान करते हैं उनको स्वभाविक ही दादुरी वृत्ति सिद्ध हो जाती है और समयान्तर से आसन जमीन के उपर उठने लगता है। इस चक्र के ध्यान से क्रांति, जठराग्नि बढ़ जाती है। आरोग्यता, चतुरता सर्वज्ञता का उदय होता है भूत–भविष्यत को जानने वाला हो जाता है। बिना बाह्म पठन के ही शास्त्रों की व्याख्या करने में समर्थ होता है। बड़ी महिमा है— इन चक्रों के ध्यान फल का।

इसलिये हम सभी **'सिद्धयोग'** के सुधी–जनों को श्री प्रभुजी के चरण कमलों से प्राप्त शक्ति का हर समय अपने अंदर उत्थान के लिये प्रयास करते रहना चाहिये। उन कृपानिधि ने इस महा कलिकाल में भी हिमालय से आकर हम पामरों को अपनाकर केवल पावन ही नहीं बनाया अपितु कुल कुण्डलिनी को अपने शक्तिपात से जाग्रत कर अर्न्तलोक में प्रवेश कराये हुये हैं।

शक्तिपात के बारे में एक बात हमें गौर करनी चाहिये कि यदि-हम सद्गुरु के आज्ञानुसार साधना में नही जुटते हैं तो जाग्रत शक्ति आवरण युक्त हो उठती है। प्रभाव घटता ही है। शक्तिपात साधना का परम सहयोगी तत्व है शक्तिपात से अंतिम परिणाम घटित नहीं होता अंतिम परिणाम तो कृपा से होता है शक्तिपात वर्हिमुखता से जहाँ वलात् अर्न्तराज्य में प्रवेश देता है वहीं कृपा अर्न्तराज के केन्द्र निर्विकल्प में स्थापना देती है सद्गुरु की कृपा हर रूप में साधक के साथ पूरी अध्यात्म यात्रा में सदैव वांछित है। अन्यथा मनोमुखता से साधक पुनःपुनः भटककर भवार्वत में ही फिरता रहता है।

श्री प्रभुजी हम सभी को अपने कृपाकोर से हर पल सिंचित करते रहें यही मेरी कामना है।

***

ध्यान

रामप्रकाश अनुरागी, ग्वालियर

ध्यान
अर्थात्
किसी बिन्दु विशेष में एकाग्रता
अर्थात्
चेतना का
बहिरभ्यंतर एकाकार होना
अर्थात्
शक्ति का संगठित होना

ध्यान
अर्थात्
एक में एक होना
अर्थात्
एक रूप होना
स्व—रूप होना
सम रूप होना,
हमारा रूप क्या है ? कैसा है??
कहाँ सोच पाते हैं हम ?

संतुष्ट हैं—
अपने ज्ञात रूपों में
पुत्र, भाई, पति, पिता
जीजा, साला, मौसा
मामा, फूफा आदि
कितने ज्ञात रूप हैं हमारे ?
जीवन से जुड़े हुए,
तो कुछ रूप,
जीविका से जुड़े हैं

कितने रूप हैं हमारे ?
अनेक रूप,
अनेक रूप स्थिति में
स्वरूप पर सोचने का
समय ही कहाँ है
किसी के भी पास ?
अर्थात्
ध्यान के लिये
समय ही कहाँ है ?
किसी के भी पास,
कहाँ है ?
हमारे पास समय,
ध्यान के लिये,
सोने के अलावा
शेष समय
अनेक रूपों के निर्वाह को ही
कम पड़ जाता है,
कैसे खोज पाये कोई ?
अपना रूप, स्व—रूप,
अनेक रूपों में,
स्वरूप कहीं खो जाता है ?
अनेक रूप साकार होने पर,
स्वरूप निराकार हो जाता है।
अर्थात्
अनेक रूप निराकार हों
तब स्वरूप साकार हो,

ध्यान
बिखर—बिखर जाता है,
ध्यान—काल में
आभासित होते हैं—
अनेक रूप,
अनेक रूपों का संसार
तज्जन्य
आशंकायें—चिन्तायें·
भ्रम और भ्रांतियाँ
अदृश्य दृश्य पटल
चलचित्र सा हो जाता है।
रूप दिखते हैं।
लेकिन,
अनचाहे—कुरूप,
दृश्य दिखते हैं,
किन्तु
धुँधले—अस्पष्ट,
तब लगने लगते हैं
ज्ञानी चक्षु—अज्ञानी
चर्म चक्षु—ज्ञानी
ध्यान भंग हो जाता है।
खीझ कर हम
खोल लेते हैं आँखें,
पुनः—पुनः यों ही
करने लगते हैं कोशिश,
अनेक रूपों में
एक रूप होने की,

ध्यान
भंग होने दो
चलने दो चलचित्र
उभरने दो
भीतरी—बाहरी रूप
पल भर के हैं
लहर से पैदा होते हैं
बुलबुले से बिला जाते हैं,
खीझो मत,
डूबते जाओ
अज्ञात अंधकार में
यह सुरंग—यात्रा ही
पहुँचायेगी—
अनंत प्रकाश तक,
जहाँ,
दिव्य रूप स्थित है,
समा जाओ उसमें
दिव्य—रूप हो जाओ,
स्व—रूप हो जाओ,
एक रूप हो जाओ,
और फिर
एक रूप का
कर दो विलय,
इष्ट रूप में,
अभीष्ट रूप में,
और हो जाओ—
समरूप
यही ध्यान है
और यही—
ध्यान का फल,
अविकल,

❋❋❋

चित

जनक कुलश्रेष्ठ

सत्, रज और तम तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम अव्यक्त एवं अलिंग मूल प्रकृति कहलाती है। ब्रह्म चेतन तत्व है। गुण जड़ हैं। जड़ तत्व में व्यवस्थापूर्वक क्रिया चेतन तत्व की संनिधि से होती है। चेतन तत्व संनिधिमात्र से जड़ तत्व (गुणों) में क्षोभ उत्पन्न होकर विषमता उत्पन्न होती है। गुणों की इस विषमावस्था का प्रथम विषम परिणाम महत्तत्व है। यही लिंग रूप है और सृष्टि का बीज रूप है। इसी से सारी सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

यही महत्तत्व योग दर्शन के अनुसार समष्टि तथा व्यष्टि चित्त और सांख्य दर्शन के अनुसार समष्टि और व्यष्टि बुद्धि कहलाती है। वेदान्त में समष्टि चित्त को हिरण्यगर्भ और व्यष्टि चित्त को तैजस कहते हैं। गीता में इसी को महद्ब्रह्म कहा है—

ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भ दधाम्यहम्

महत्तत्व ही सारी सृष्टि का बीज होने से महान है तथा ब्रह्म के अति निकट होने से ब्रह्म है। इसीलिए इसे महद्ब्रह्म कहा है।

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः
महानिति च योगेषु विरंचिति तथाप्यजः

इन हिरण्यगर्भ भगवान को समष्टि बुद्धि कहते हैं। इन्हीं को योगीजन महान्, महत्तत्व, विरंचि तथा अज भी कहते हैं। योगवासिष्ठ में इसको मन कहा है जिसका काम संकल्प करना है।

(उतपत्ति प्रकरण)

संकल्पनं मनोविद्धि संकल्पान्तन्न भिद्यते अर्थात संकल्प ही मन है सकल्प और मन में कोई अन्तर नहीं है। सांख्य में महत्तत्व को बुद्धि कहा गया है, क्योंकि सांख्य योगी बुद्धि द्वारा सब पदार्थों का विवेकपूर्वक निर्णय करता है। क्रियात्मक होने से योग में चित्त द्वारा साक्षात्कार करना होता है इस कारण योगीजन प्रत्यक्ष अनुभूति कराने के कारण चित्त कहते हैं। कहीं—कहीं पर मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को अन्तःकरण चतुष्टय भी कहते हैं। संकल्प—विकल्प करने से मन, निर्णय या निश्चय करने से बुद्धि, स्मृति और संस्कारों से चित्रित होने से चित्त तथा अहंभाव अर्थात् मेरे—तेरे का भाव होने से अहंकार कहलाता है।

प्रकाशक्रियास्थिति शील भूतेन्द्रियात्मकम् भोगापवर्गार्थम् दृश्यम् —(योग दर्शन)

एक ब्रह्म ही दृष्टा है अव्यक्त मूल प्रकृति से उत्पन्न समस्त तत्व दृश्य है। यह तत्व (चित्त) भी एक दृश्य का अंग है। यह दृश्य (चित्त) त्रिगुणात्मक है। समस्त अर्थात पंचमहाभूत एवं समस्त इन्द्रिया महत्तत्व (चित्त) के तीनों गुणों से उत्पन्न हैं। महत्तत्व से अहंकार की उत्पत्ति हुई तथा तमोगुण युक्त अहंकार से पंच तन्मात्राएँ, रजोगुण युक्त अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ तथा सतोगुण युक्त अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई।

मन का स्वरूप—

गीता में भवान श्रीकृष्ण से अर्जुन ने पूछा
चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़त।
तस्याहं निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

यह मन बहुत बलवान, प्रमथन करने वाला है तथा अत्यधिक चंचल है। इसकी चंचलता को वश में करना वायु को वश में करने के समान है।

वज्रादपि दृढ़ो ब्रह्मन दुर्निग्रह मनोग्रह

(योग वाशिष्ठ वैराग्य प्रकरण)

अर्जुन की भांति भगवान राम ने भी अपने कुल गुरु श्री वशिष्ठजी से कहा था कि मन के ऊपर नियन्त्रण करना बड़ा ही कठिन है। यह बज्र से भी अधिक कठोर है। जड़ होने से इस मन को आनन्दस्वरूप नहीं कहा जा सकता है। आनन्द का हेतु होने से इस मन को आनन्दरहित भी नहीं कह सकते हैं। यह अचल एवं स्थिर है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि बाहर भी यह स्फुरण किया करता है। जिस प्रकार से सर्वत्र रहने वाला आकाश परम सूक्ष्म होने से उपलक्षित नहीं होता, उसी प्रकार यह मन भी सर्वत्र रहता हुआ भी उपलक्षित नहीं होता है नित्य होने के कारण इसका कभी न उदय होता है और न कभी नाश ही हुआ करता है। यही कारण है कि योगदर्शनकार ने इसका निरोध करना ही एक मात्र उपाय बताया है।

दृष्टा (चेतन—आत्मा) और दृश्य (चित्त) के अविवेकपूर्ण संयोग के नाश को ही निरोध कहा जाता है।

चित्त का प्रयोजन—

योग दर्शन के उक्त सूत्र के अनुसार व्यष्टि चित्त दृश्य है। यह व्यष्टि चित्त त्रिगुणात्मक है। इसका प्रयोजन दृष्टा—चेतन पुरुष को भोग और अपवर्ग दिलाना है। भोग दो प्रकार का होता है। (१) अनिष्ट भोग (२) इष्ट भोग।

(१) अनिष्ट भोग—जनमजन्मान्तरों से चित्त पर चढ़े हुए मल, विक्षेप और आवरण, जिनके कारण वर्तमान जन्म काल में भोगों को भोगा जा रहा है। विद्यमान है। गत जन्मों के संस्कारों के भोगों को भोगने के लिए ही यह नया शरीर प्राप्त हुआ है। प्राणियों को पूर्व जनकृत भोगों का भुगतान कराके उनको बुद्ध व परिष्कृत करना इस दृश्य चित्त का प्रयोजन है। इनका भोग स्थूल व गुरु कृपा से सूक्ष्म और कारण शरीरों के द्वारा भी भोगा जाता है।

(२) इष्ट भोग—इष्ट भोग वे भोग होते हैं जिनके कारण साधक सम्प्रज्ञात समाधि में विवेक द्वारा तत्व ज्ञान कराते हैं। यही भोग का वास्तविक स्वरूप है। जिसको विवेकीजन भोगते हैं। इस प्रयोजन की सिद्धि हो जाने के पश्चात् अर्थात् स्वरूपस्थिति हो जाने पर चित्त का पूर्णरूपेण शमन हो जाता है।

चित्त का स्थान—

यूँ तो चित्त व्यापक होने से शरीर के प्रत्येक अंग में व्याप्त रहता है। परन्तु विभिन्न स्थितियों में चित्त शरीर के विभिन्न अंगों में मुख्य रूप से स्थित रहता है। अंग विशेष में स्थित रहते हुए भी उसकी सत्ता उसी प्रकार शरीर के समस्त अंगों में व्याप्त रहती है जिस प्रकार भारत के राष्ट्रपति के एक स्थान पर रहने पर भी उसकी सत्ता देश के कौने—कौने में व्याप्त रहती है। तैत्तीरियोपनिषद के प्रथम वल्ली के षष्ठम अनुवाक के अनुसार सुषुप्ति काल में चित्त आज्ञा चक्र के सम्मुख काक तालू के ऊपर जहाँ अंगुष्टमात्र का स्थान है निवास करता है यही स्थान हृदय गुहा कहलाता है। साधक के स्वप्न काल में कंठ की हिता नाड़ी में निवास करके स्वप्न में विभिन्न दृश्य उपस्थित करता है। और जाग्रतावस्था में नेत्रों में रहकर संसार के दृश्यों का अवलोकन करता है। सम्प्रज्ञात समाधि में यह चित्त आज्ञा चक्र में तथा असम्प्रज्ञात समाधि में ब्रह्मरंध्र में निवास करता है। यहाँ पर चित्त का पूर्ण रूपेण शमन हो जाता है।

❊ ❊ ❊

सच्चिदानंद श्रीकृष्ण तत्व

लेखक : ब्रह्मानन्द दीक्षित

भारतीय वाङ्मय के व्यापक विस्तार का आकलन भारतीय कला के कमनीय प्रसार का अनुशीलन इस देश के जन जीवन का समीचीन अध्ययन तथा जिसमें भारत की समृद्ध सभ्यता और उदात्त संस्कृति का सुंदर सन्निवेश है, उस भारतीय धर्म का अनुसन्धानिक दृष्टि से आलोचना करने पर यह एक सर्व सम्मत तथ्य मानव बुद्धि के समक्ष परिस्फुरित हो उठता है कि कोई ऐसा समय अवश्य रहा, जब यह सारा दृश्य जगत या तो रहा ही नहीं, अथवा रहा तो ऐसा अव्यक्त या अप्रकट कि उसे कोई किसी भी ऐसे रूप में अवगत नहीं कर सकता था, जिसे किसी भाषा, द्वारा जिज्ञासु के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके। यह स्थिति ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०.१२.१५) में बड़ी सच्चाई के साथ बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त की गयी है।

भारत के तत्वचिंतन व्यसनी सभी आचार्यों ने महती स्वाध्याय साधना के पश्चात इस सत्य को उद्धरित करने का स्तुत्य कार्य किया है कि यह जगत जिस मूल कारण से अपने बुद्धिगम्य अस्तित्व में आया वह सत्ता, प्रकाश और आनंद का ऐसा महान केन्द्र है, जिसकी किसी सीमा की परिकल्पना नहीं की जा सकती। उसे सत्ता का केन्द्र इसलिये मानना होगा कि वह सत्ता की धारा प्रवाहित करने में असमर्थ होगा तो उससे विकसित या उद्‌भूत होने वाले जगत को अस्तित्व ही न मिल सकेगा। इसी प्रकार उसे प्रकाश का भी केन्द्र इसीलिये मानना पड़ेगा कि यदि उसमें प्रकाश देने की क्षमता न होगी तो उसके स्वरूप से प्रकट होने वाले विश्व को बुद्धिगम्य करना सम्भव न होगा। क्योंकि सारे जगत का प्रकाश उसी से होता है यदि उसे आनंद का केन्द्र न माना जायेगा तो उससे उत्पन्न होने वाले जीव जगत का सम्भव न हो सकेगा। क्योंकि जीवन का एकमात्र आधार आनन्द ही है, जब वह मूल कारण में ही न होगा तो जगत को उसका लाभ कैसे होगा। फिर उसके बिना जगत की स्थिति कैसे हो सकेगी ? अत: इस सत्य को स्वीकार करना अनिवार्य है कि जगत का मूल कारण सत् चित और आनन्द रूप है।

भारतीय आचार्यों ने इस मूल कारण के सम्बन्ध में यह भी ज्ञात करने और उसे मानव के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है कि जगत का मूल कारण स्वयं बड़ा वृहत है। इतना वृहत कि उससे चाहे जितने विश्व उद्‌भूत होते रहे उसका स्वरूप कोष कभी क्षीण होने वाला नहीं। साथ ही, उसमें अन्य वस्तुओं को वृहत और विस्तृत करने की असीम शक्ति भी है और यह शक्ति भी उसकी सहज है—उसमें नित्य संगत है, किसी अन्य से उसे अर्जित नहीं करना है, उसको इस नैसर्गिक वृहता और वृहणकारिता को व्यक्त करने के लिये ही उसे 'ब्रह्म' शब्द से अभिहित किया गया है।

'वृहत्वाद् वृंहणंत्वाद्वा आत्मा ब्रह्मेति गीयते'।

इस प्रकार इस विश्व का मूल कारण सच्चिदानंद ब्रह्म है। श्री कृष्ण तत्व के अध्येता विद्वानों ने इस सच्चिदानंद ब्रह्म को ही श्री कृष्ण के रूप में समझा है। जब जगत का मूल कारण ब्रह्म एक ही आकार में अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति कराने के उद्देश्य से देवकी के गर्भ में प्रविष्ठ हुआ, तब देवताओं ने उसकी स्तुति की। वह स्तुति विभिन्न पुराणों में विभिन्न रूपों में अंकित है। स्तुति में यह कहा गया है कि देवकी के गर्भ में अवस्थित तत्व जगत की योनि है, उसकी स्वयं कोई योनि नहीं है। वह अनन्त, अव्यय, ज्योति स्वरूप अघहीन, निर्गुण, सगुण और महान है। वह निरंकुश है, सर्वेश है, सर्वात्मभाव है का आश्रय है एकमात्र उसी की इच्छा उसके विविध रूपों में 'प्रकट' होने में निमित्त है वह निसर्गतः निराकार है, किन्तु भक्तों के अनुरोध से, लौकिक रूप में दृष्टिगत होकर उनके आत्मतोष का सम्पादन करने के विचार से वह साकार होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है।

'जगद्योनिर योनिस्त्वमनन्तोऽव्यय एव च।
ज्योतिः स्वरूपो ह्नघः सगुणो निर्गुणो महान।।
भक्तानुरोधात् साकारो निराकारो निरंकुशः।
स्वेच्छामयश्च सर्वेश, सर्वः सर्वगुणाश्रयः।।

ब्रह्म जब देवकी के गर्भ से निकल कर सूतिकागृह की शैया पर अवस्थित हुआ तब उसका शरीर जो देवकी और वसुदेव के देखने में आया, वह अत्यन्त सुंदर, कमनीय और अतिशय मनोहर था। हाथ में मुरली और कानों में मकराकार मणिमय कुंडल थे। मुख मंडल मनोरम मुस्कान से समीपवर्ती जनों को मोहित कर रहा था। उस पर भक्त जनों पर अनुगृह करने की असीम आकांक्षा परिलक्षित हो रही थी। शरीर की नव नीरद जैसी कान्ति, पीताम्बर की असामान्य सुषमा, चंदन, अगरू कस्तूरी और कुङ्कुम से समूचे शरीर का प्रसाधन मुख पर शरद के पूर्ण चन्द्र की चारुतापूर्ण चांदनी जैसी छटा, अधर के बिम्ब की लावण्यमयी अरुणिमा, शिर पर मयूर के बहुरंगी पंख की कलंकी पैर के घुटनों तक लटकती वनमाला, वक्ष के ऊपर श्री वत्स और कौस्तुभ मणी का चमत्कारी योग, कलेवर की कोमल किशोरावस्था इन समस्त सुन्दर तत्वों से आनंद विभोर हो देवकी और वसुदेव ने जिस तत्व का दर्शन किया वह उनके शब्दों में निर्लिप्त परमं ब्रह्म बीजरूपं सनातनम् था वह समस्त गुण धर्मों के लेप से नितान्त मुक्त, सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म और सम्पूर्ण विश्व प्रपंच का सनातन बीज था। यशोदा और नन्द के पूर्व जन्म के वृतान्त की चर्चा के प्रसंग में देवर्षि नारद ने श्री कृष्ण के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुये अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है–

श्री कृष्णो भगवान साक्षाद् योगीन्द्राणां गुरोर्गुरूः
यो यस्यांशः स तु जनस्तस्यैव सुखतः सुखी।।

इसी संदर्भ में नारायण ने श्री कृष्ण परिपूर्णतम विभु बनाते हुये चार रूपों में उनका उल्लेख किया है वे बैकुंठ में चतुर्भुज लक्ष्मीपती के रूप में गोलोक में द्विभुज राधापति के रूप में, योगी जनों के मन में अवस्थित

होने वाले नित्य तेज के रूप में और भक्त जनों के मन में अवभासित होने वाले साकार परमेश्वर के रूप में।

बैकुण्ठे कमलाकान्तो रूपभेदाच्चतुर्भुजः
गोलोके गोकुले राधाकान्तोऽयं द्विभुजः स्वयम॥
अस्यैव तेजो नित्यं च चित्ते कुर्वन्ति योगिनः।
भक्ता पादाम्बुजं तेजः कुतस्तेज स्विनं बिना॥

श्री मद्भागवत की दृष्टि में सारे वेद वसुदेवतनय परमात्मा श्री कृष्ण का ही स्वरूप वर्णन करने में व्याप्त है सम्पूर्ण यज्ञ विधियाँ उन्हीं की उपासना के लिये अविष्कृत है योग की सारी प्रक्रिया उन्हीं के दर्शन के लिये उद्भूत हैं। सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान उन्हीं के प्रसाद नार्थ विहित है सम्पूर्ण ज्ञान उन्हीं का अवद्योतन करने में निरत है तपस्या की समग्र पद्धतियाँ उन्हीं को बुद्धिगम्य बनाने के लिये प्रवृत्त हैं। समूचे धर्म उन्हीं का सुलभ करने के लिये प्रति पादित हैं। मनुष्य के सारे प्रयत्नों के एकमात्र वे ही प्राप्तव्य है

वासुदेवं परा वेदा वासुदेवपरा मखाः
वासुदेव परा योगा वासुदेव परा क्रियाः॥
वासुदेव परो धर्मो वासुदेव परा गतिः॥

महाभारत के शब्दों में भगवान श्री कृष्ण नारायण रूप में स्थिति थे, वे सर्वशक्तिमान भगवान हैं। अव्यक्त भाव से समस्त व्यक्त रूपों में अवस्थित रहते हैं। वे स्वयंभू और सम्पूर्ण विश्व के प्रपितामह हैं। उन्हीं सबसे पहले जल की सृष्टि की और उसमें ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया। प्रलयकाल में जल सारा चराचर जगत विहीन हो जाता है तब अकेले परमात्मा श्री कृष्ण ही शेष रह जाते हैं।

इन वर्णनों से विदित होता है कि जिस तत्व से जगत का जन्म होता है, जिस आश्रय में जगत चिरकाल तक गतिमान रहता है और अन्त में जिस तत्व में समूचा विश्व विलीन होता है उसी तत्व को 'श्रीकृष्ण' शब्द से भारतीय वाङ्मय में अभिहित किया गया है। उपनिषदों के अनुसार उसे जानने पहचानने, आप्त करने और उसमें अपने आपको सर्वात्मना समर्पण करने में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है उसकी जानकारी न होने पर मानव का विनाश ध्रुव है।

इह चेद वेदी दथ सत्यमस्ति।
न चेदिहा वेदीन्महती विनष्टिः॥

* * *

जिन्दगी जैसा त्याग

योगेश कुमार श्रीवास्तव उर्फ दीपक, शास्त्री नगर (आगरा)

आज मानव सिर्फ अपने तथा अपने परिवार के सुख के लिए जी रहा है। चाहे उसे अपने सुख के लिए दूसरों का सुख क्यों न छीनना पड़े। इसी में वह परम आनन्द को ढूंढता है। लोगों में ऐसे सुख को पाने की जिज्ञासा अपने परिवार के प्रति अत्यन्त मोह के कारण उत्पन्न होती है। यही कारण है कि वह जीवन–पर्यन्त ऐसे सुख की तलाश में अपने मन की शान्ति खो देता है। उसका चैन चला जाता है, घबराहट रहने लगती है, चिन्ताऐं घेर लेती हैं, नई–नई बीमारियां शरीर में पनपने लगती हैं, पारिवारिक कलह उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जाता है। घर बिखर जाता है। अपयश हाथ लगता है। जग हंसाई होती है।

लोगों की भावनाऐं बड़ी हास्यप्रद होती हैं, वे अमीर तो बनना चाहते हैं, लेकिन एक पैसा भी किसी गरीब पर खर्च करना नहीं चाहते। वे दूसरों से प्यार चाहते हैं, लेकिन स्वयं किसी को प्यार देना नहीं चाहते। अपनी इज्जत तो चाहते हैं, लेकिन किसी की इज्जत करना नहीं चाहते। वे ये तो चाहते हैं कि सारी दुनियां हमारी मदद करें, लेकिन वक्त आने पर दूसरों की मदद करने से अपना मुंह मोड़ लेते हैं। स्वयं सुखी–रहना चाहते हैं, लेकिन दूसरों के सुख से ईर्ष्या करते हैं।

कहने को मनुष्य को समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है, क्योंकि उसके पास बुद्धि है, लेकिन उस समय वह विवेकहीन और जानवरों से भी निम्न स्तर का हो जाता है, जब वह मोहवश, उस प्रत्येक वस्तु को जिनको वह रोज स्तेमाल करता है, वह जगह जहाँ वह रहता है, अपने–परिवार के लोग जिनके मध्य रहकर वह अपना समय व्यतीत करता है, सभी को वह अपना समझने लगता है। उसकी किसी भी अपनी वस्तु पर कोई दूसरा अधिकार करे अथवा छीनने की कोशिश करे, तो उसे बड़ा कष्ट होता है।

ईश्वर ने प्रत्येक वस्तु मनुष्य को सुख–साधनों के रूप में प्रदान की है ताकि वह अपना लम्बा जीवन सुख शान्ति के साथ व्यतीत कर सके। आज जो वस्तु हमारी है, वह कल किसी और की थी, और कल किसी और की हो जायेगी। यहाँ कुछ भी किसी का नहीं है सभी कुछ ईश्वर का है। लेकिन मनुष्य उन पर अपना अधिकार समझकर बहुत ही बड़ी भूल कर बैठा है। इसी कारण आज दुनिया भर के लोग सुखी नहीं हैं। जिनके पास बेहिसाब भौतिक सुख के साधन उपलब्ध हैं। वे भी मन की सच्ची शान्ति से प्रथक रहते हैं। ये लोग रातों रात करोड़पति बनने की कल्पनाओं में डूबे रहते हैं। इनका व्यवसाय इतना विस्तृत और जटिल होता है कि उन्हें एक पल का भी चैन नसीब नहीं होता है। भले ही ये लोग मखमल के कीमती गद्दों पर सोते हों, लेकिन उन्हें सोने के लिए नींद की गोलियां लेनी पड़ती है। इसी तथ्य को एक शायर ने स्पष्ट किया है–

''अखबार बिछा कर फुटपाथ पर चैन से सो जाते हैं,
मजदूर कभी नींद की गोली नहीं खाते''

उपरोक्त शेर से स्पष्ट है कि थोड़े में सन्तोष करना कितना सुखदाई है! निःसन्देह अत्यधिक पाने की लालसा ही मनुष्य के दुःखों के लिए उत्तरदायी है।

सभी प्रकार के दुःखों–कष्टों से छुटकारा दिलाने का केवल एक ही उपाय है 'त्याग'। आजकल तो लोग 'त्याग' शब्द को अपनाना तो दूर, सुनना भी पसन्द नहीं करते हैं। जब कोई त्याग भावना से प्रेरित फिल्म भारतीय छविग्रहों में दिखाई जाती है, तो सभी छविग्रहों की अधिकांश कुर्सियाँ जो रिक्त दिखाई देती हैं। यह

प्रमाणित कर देती हैं कि लोगों को 'त्याग' शब्द बिल्कुल नहीं पचता है।

'त्याग' प्राचीन भारतीय संस्कृति से जुड़ा हुआ है। अनेक प्राचीन ऋषि–मुनियों ने इसे अपनाया तथा लोगों को 'त्याग' करने के लिए प्रेरित किया, जिनके प्रभाव से भारतीय पृथ्वी पर राम, दधीचि, कर्ण, एकलव्य, ध्रुव तथा हर्ष आदि जैसे महात्यागी पैदा हुये।

'त्याग का अर्थ है, अपना कुछ प्रिय दूसरों के हित के लिए हमेशा के लिए छोड़ देना, बदले में स्वयं कष्ट झेलना। इसी अर्थ के कारण लोग त्याग–भावना से परहेज रखते हैं। इसे अपनाने में वे अपनी मूर्खता समझते हैं।

'त्याग' शब्द ढाई अक्षर से मिलकर बना है। भले ही लोगों को इस शब्द का ऊपरी शाब्दिक अर्थ पसन्द नहीं है। लेकिन यह महासन्त कबीर दास के 'प्रेम' के ढाई अक्षर, से किसी प्रकार भी कम प्रभावशाली नहीं है। इसका विस्तृत अर्थ है। इसमें असीमित प्रेम–भावना, विश्व–बंधुत्व की भावना समाई हुई है। जहाँ पर त्याग है बस वहीं पर प्रेम है, सुख है। लोग अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए दिन–रात ईश्वर उपासना में लगे रहते हैं। निःस्वार्थ भाव से की गई गरीबों की सेवा व दूसरो के प्रति प्यार की भावना ही ईश्वर की सच्ची उपासना है। इस प्रकार की ईश्वर पूजा के लिए किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यह तो बिना किसी खर्चे के, मन की निःस्वार्थ भावना से की जाती है। ईश्वर को तो सिर्फ 'त्याग' से ही प्यार है। वह लोगों की त्याग भावना से अतिशीघ्र प्रसन्न होता है। और लोगों की मनोकामनाऐं पूरी करता है।

'त्याग की भावना' लोगों को, दूसरे के प्रति ईर्ष्या, राग–द्वेष, अनैतिकता, साम्प्रदायिकता, विभिन्न सामाजिक बुराइयों, मदिरापान आदि अहितकर शौकों, पारिवारिक क्लेश, मन की अशान्ति, दंगे–फसाद तथा झगड़े की भावनाओं आदि बुराइयों से दूर रखती है।

आधुनिक माता–पिता जो कि शिक्षित होते हुए भी अपने बच्चों को बचपन से अपने–पराये का पाठ पढ़ाते हैं। दूसरों का कोई भी काम करने के लिए उन्हें रोकते हैं, उन्हें चालाक और छली बनने के लिए मजबूर किया जाता है। यही बच्चे बड़े होकर, बड़े–बड़े सरकारी कार्यालयों तथा संस्थाओं में भ्रष्टाचार आदि फैलाने से नहीं चूकते हैं।

बच्चों में, यदि माँ–बाप शुरू से ही त्याग की भावना को जगाऐं, उन्हें दूसरों से प्रेम करना सिखाऐं तो निश्चय ही आज भी देश में अनेक महात्मा गाँधी, सुभाष, लाल बहादुर शास्त्री, पटेल, तिलक, लाला लाजपत राय, आजाद तथा भगत सिंह जैसे नेता व सच्चे देश भक्त पैदा हो जायेंगे। निश्चय ही लोग थोड़े में संतुष्ट होना सीख लेंगे। न उनकी अधिक आवश्यकता होगी न वे अधिक दुःखी रहेंगे। लोगों के अन्दर त्याग की भावना जिन्दगी की तरह होनी चाहिए मौत की तरह नहीं।

''मौत जब आती है तो जिन्दगी को एक पल भी नहीं देती, पर जिन्दगी एक पल में मौत को अपना सब कुछ दे देती है।''

वास्तव में कभी कोई आदमी किसी आदमी के लिए थोड़ा सा भी कुछ करके तो देखे, इससे मन को बड़ी शान्ति मिलती है। मन का बोझ हल्का सा महसूस होने लगता है। परम आनन्द की अनुभूति होती है मरते समय उसे इस बात का अफसोस नहीं रहता कि वह अपनी जीवन–यात्रा में कुछ कर नहीं सका।

मुझे अपने गुरुदेव की वह वाणी हमेशा याद रहती है कि –

''कुछ पुरुषार्थ करलोगे तो अच्छे ही रहोगे।''

विश्व मानव प्रेम और शान्ति

जहाँ अभिमानी अधिक होंगे वहाँ निःस्वार्थ प्रेम कम होगा; लोगों के हृदयों में करुणा के स्थान पर वैमनस्य की भावना अपने उच्चतम् बिन्दु पर होगी और मानवीय प्रेम के स्थान पर स्वार्थपूर्ण श्रद्धा केवल औपचारिकता मात्र होगी। प्रत्येक राजा, मंत्री, सम्प्रदाय, जाति और व्यक्ति अपने स्वाभिमान के प्रति सतर्क होता है। राज्य अथवा देश के किसी विषय विशेष को लेकर जब परस्पर स्वाभिमान क्षतिग्रस्त होते हैं तो प्रेम का स्वार्थपूर्ण बनावटी पतला धागा तुरन्त टूट जाता है और फिर कुतर्क होते हैं, सिर फूटते हैं, रक्त बहता है और निर्दोष मानवता का नाश होता है। मानवता के अभाव में फिर मानव कैसा ? सिर्फ एक हिंसक पशु ही होगा। मनुष्य शरीर में ही पशुओं के स्वभाव को अपना लेना चौरासी लाख पशु–जीव जन्तुओं की निम्न भोग योनियों में भटकने का एक मात्र कारण है।

टकराव और बिखराव हमारी अमर योग विद्या का उद्देश्य नहीं है। योग को उसके शाब्दिक अर्थ से ही देख लीजिए; इसकी सीधी सी प्रेरणा है–आत्मा को आत्मा से जोड़ना। आत्मा से आत्मा मिलकर ही विराट सर्वशक्तिमान आत्मा में परिवर्तित होगी और तभी समग्र विश्व हमें अपना ही एक परिवार प्रतीत होगा। फिर जैसे हम मोहवश अपने परिवार के कल्याणार्थ कर्म करते हैं वैसे ही विश्व के कल्याणार्थ भी कर्तव्य कर्म कर सकेंगे। तभी हम समूची भावी मानवता के हित में कुछ शुभ सन्देश छोड़ सकेंगे। भले ही अपना सर्वस्व बलिदान क्यों न करना पड़े। यही सम्प्रज्ञात समाधि की आनन्दानुगम अवस्था है जिसमें योगी प्राणीमात्र के अन्दर अपने आपको और प्राणीमात्र को अपने अन्दर देखने लगता है। यदि वास्तव में हम योग विद्या की इस अवस्था को प्राप्त करने के जिज्ञासु हैं तो प्रथम सभी के हेतु मधुर प्रेम के बीज तो हृदय में बोने ही होंगे।

हमारे हृदय कमलों की नित्य शोभा बढ़ाने वाले महान योगेश्वर गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने भारतीय कहलाने वाली सार्वभौम योग विद्या के अमर प्रचारार्थ 'योग सिद्धान्त' जैसे अनूठे ग्रन्थ की रचना दो खण्डों में की है। पूज्य श्री गुरुदेव जी ने इस पवित्र ग्रन्थ में योग विद्या के गूढ़ सिद्धान्तों का उल्लेख देने से पूर्व विश्व शान्ति और प्रेम के प्रति योग जिज्ञासुओं का ध्यान आकृष्ट किया है। प्रेम और शान्ति योग विद्या का आधारभूत सिद्धान्त है। इन दो सद्गुणों के अस्तित्व में ही योग की उच्च भूमिकाओं में प्रवेश पाया जा सकता है। श्री गुरुदेव भगवान ने अपना अभिमत प्रस्तुत किया है कि केवल मात्र योग ही एक ऐसा मार्ग है जिसे अपनाकर समस्त विश्व में प्रेम और शान्ति की स्थापना हो सकती है। श्री गुरुदेव जी ने इस ग्रन्थ में विश्व प्रेम और शान्ति को प्रथम महत्व दिया है; यह उल्लेखनीय और विचारणीय है। श्री प्रभुजी की इस विश्व कल्याणार्थ परम् भावना से प्रेरित होकर उनके महान अनुग्रह स्वरूप मेरे हृदय में उक्त विषय पर कुछ लिखने के लिए भावद्गद हो रहे हैं। देश और देश के बाहर लोगों के हृदयों में बल लेती परस्पर द्वेष और

प्रतिशोध की भावना से विश्वमानव का भावनात्मक संगठन दिनोंदिन निर्बल होता जा रहा है।

यदि अभी से इस गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर ध्यान नहीं दिया गया तो भविष्य में शीघ्र ही समूची मानव जाति को इसके भयंकर दुष्परिणाम भोगने होंगे जो प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों की अपेक्षाकृत कई गुने अधिक विनाशकारी होंगे। अतः विश्व को इस महाविनाशकारी अमानवीय संकट से उबारने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि लोगों में सार्वभौम योग विद्या के माध्यम से योग सिद्धान्तों की सरल व्याख्या करते हुये लोगों में पुनः परस्पर प्रेम और शान्ति की स्थापना की जाय। लोग, योग को मोक्ष जैसी अन्यन्त दुर्लभ उपलब्धि प्राप्त कराने वाली अति जटिल विद्या समझ कर अब तक इसकी उपेक्षा करते आये हैं। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है योग विद्या ही केवल मात्र ऐसी विद्या है जो मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बद्ध छोटी–बड़ी सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान करती हुई मोक्ष हेतु, ब्रह्म लोक तक ले जाती है।

योग की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से शुरू होती है किन्तु आपसी प्रेम और सद्भावना के फलस्वरूप ही मन की एकाग्रता सम्भव है। एकाग्रता के प्रथम किनारे पर व्यवहारिक प्रेम और शान्ति है जिसकी उपस्थिति संसार के सभी कार्यों हेतु अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे किनारे पर योग की समाधिस्थ भूमिकाओं में प्राप्त होने वाली परम शान्ति है जिसे 'मोक्ष' कहा जाता है। जिस प्रकार मन की एकाग्रता योग की उच्चतम् भूमियों में पहुँचने का आधार है उसी प्रकार मन की एकाग्रता का आधार सांसारिक लोगों में प्रचलित परस्पर प्रेम और शान्ति का वातावरण है। व्यवहारिक प्रेम और शान्तिपूर्ण वातावरण के लिए मजबूत आर्थिक स्थिति और निरोगी शरीर चाहिए। गरीबी और रुग्ण शरीर के रहते मन की एकाग्रता के यौगिक उपाय नहीं किये जा सकते।

स्वामी विवेकानन्द जी ने ठीक ही कहा था–"भारत का भूखा व्यक्ति कैसे यौगिक साधनायें और ध्यान भजन कर सकता है ? प्रथम भारत की गरीबी और बेरोजगारी को समाप्त करना चाहिए।" योगारूढ़ साधक योग की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी बनने से पूर्व निरोगी शरीर हेतु योगासनों का सहारा लिया करते हैं। इस प्रकार वे अपने रोगों का अपशमन करके यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त करने हेतु पहले यौगिक वातावरण तैयार करते हैं। इन दोनों के ही अभाव में परस्पर प्रेम और शान्ति का भी अभाव हो जाता है। हम ग्रहस्थ जीवन में देख सकते हैं; कलहपूर्ण वातावरण और आर्थिक अभावों तथा शारीरिक दौर्बल्यताओं के रहते चित्त की अशान्त और विक्षिप्तावस्था में किसी भी लौकिक कार्य में सफलता पाना कितना कठिन होता है। आध्यात्मिक जगत में, ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत योग की उच्चतम् अवस्थाओं को प्राप्त करना तो कभी सम्भव ही नहीं है।

अपने–अपने कार्यों के प्रति जो जितना एकाग्र होता है उसकी सफलता भी उतनी की सुन्दर होती है। लौकिक जीवन के अन्तर्गत साहित्य, कला, संगीत, विज्ञान, शिक्षा और राजनीति के क्षेत्रों में, अनेक महापुरुषों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप मानव जाति के सांसारिक जीवन को सफल बनाने हेतु जितने भी अमर उच्चकोटि के कार्य किये गये हैं वे सभी मन की सकाग्रता का लाभ उठाने से पूर्व उन्होंने प्रेम और शान्तिपूर्ण वातावरण की अति आवश्यकता महसूस की। जिस किसी महापुरुष के जीवन में इस शुभ वातावरण का अभाव रहा उसने तुरन्त ही अपनी प्रतिभा को निखारने के उद्देश्य से, अपने कलहपूर्ण घर–परिवार, मित्र–शत्रु तथा समाज

को त्यागकर, मन की एकाग्रता को बनाये रखने वाले शान्तिपूर्ण स्थानों को ढूंढ निकाला और वहीं रहकर अपने कार्यों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की।

सांसारिक जीवन की सफलता से ही आध्यात्मिक जीवन की सफलता है। परमब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। एक ही समय में उनमें विरुद्ध धर्मों की लीला चल रही है यही उनकी विज्ञानमय अद्भुत योग महिमा है। जो सिद्धानत पुरुष (परमात्मा) के हैं वही उनकी प्रकृति (सृष्टि) में भी लागू होते हैं। सृष्टि में सर्वत्र विरोधी गुण होने से मनुष्य के जीवन में भी विरोधी गुण है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन सुख–दुःख रूपी दो विरोधी गुणों से संचालित है। जो व्यक्ति सांसारिक सुख–दुःख दोनों को स्पर्श करता हुआ, दोनों के बीच से निकल जाता है अर्थात् अपने सुख और दुःख की विरोधी स्थितियों में बिना विचलित हुये सामंजस्य बना लेता है उसी वीर–धीर पुरुष का सांसारिक जीवन वास्तव में सफल कहा जाता है।

सुखी दाम्पत्य जीवन का आशीर्वाद लेने के लिए जब भी कोई वर–वधु विवाहोपरान्त, श्री प्रभु (श्री चन्द्रमोहन जी महाराज) के पावन चरण कमलों में समर्पित होते थे तो श्री प्रभुजी बड़े प्यार से आह्लादित होकर उन पति–पत्नी से कहते– "देखो, तुम दोनों एक प्राण बन कर रहना; कभी झगड़ा नहीं करना। पति–पत्नी में प्रगाढ़ प्रेम होता है वहाँ कभी कोई अनिष्ट नहीं होता। लक्ष्मी का सदैव वास रहता है, घर में समस्त देवी–देवता वास करते हैं, बच्चे निरोगी और ज्ञानवान होते हैं। मेरी इस बात को गाँठ में बाँध कर ले जाओ यदि परस्पर प्रेम बना कर रहोगे तो सर्व सुखी होंगे।"

व्यवहारिक जीवन में गुरुदेव के ये अमृत वचन जीवन की समस्याओं का समाधान कर देते हैं। लौकिक सभी मनोकामनाओं को पूर्ण करने का आश्वासन देकर रिझाने वाले इस उपदेश के सामान्य प्रत्यक्ष अर्थ को हर व्यक्ति बड़ी आसानी से समझ लेता है; किन्तु इसकें पीछे श्री गुरुदेव जी की एक योग सिद्धान्त मय प्रक्रिया थी जो उस समय अप्रत्यक्ष थी, अब स्पष्ट समझ में आती है। श्री प्रभुजी नव दम्पतियों को इस प्रकार का आशीर्वाद इस लिए भी दिया करते थे ताकि इनके घर में पैदा होने वाले संस्कारी बच्चों को अपने सर्वांगीण विकास हेतु प्रेम और शान्ति से परिपूर्ण सुविधाजनक वातावरण मिल सके जो कि आगे चलकर अपने विवेकपूर्ण महान कार्यों से देश–विदेश की सुख–शान्ति के लिए कुछ कार्य कर सकें। हमारे गुरुदेव बड़े ही अद्भुत और निराले थे उनकी लीला का पार पाना बिना उनकी करुणा–कृपा के असम्भ है। वे परम विश्वनाथ विश्व के कल्याणार्थ प्रतिक्षण अपनी योगमाया से विश्व मानव की तो बात अलग जीव–जन्तुओं के लिए भी एक साथ हजारों कार्य किया करते थे आज भी बराबर कर रहे हैं और करते रहेंगे। उन महान योगेश्वर का एक छोटा सा ही उपदेश संसार को धन्य करने वाला होता है– विश्वनाथ कहलाये जाने से विश्व को आगे खींचने की जिम्मेदारी भी उन्हीं की है।

आज के बच्चे ही कल देश के रक्षक होंगे। अतः बच्चों को उचित संस्कार दिये जायें ऐसा श्री प्रभुजी चाहते थे। जो माता–पिता आध्यात्मिक और संयम नियम से रहने वाले हैं उनके परस्पर अति प्रेम से जीवन यापन करने से उनमें सतोगुण बढ़ जाता है। फिर बच्चे भी सतोगुणी पैदा होते हैं। ऐसे सतोगुणी बच्चों को जब स्नेह और शान्तिपूर्ण पारवारिक वातावरण मिलता है तो वे शीघ्र ही सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करके

देश के उज्जवल भविष्य के लिए देश के सच्चे जिम्मेदार सेवक सिद्ध होते हैं। आज विश्व में सतोगुण का अभाव हो गया है इसीलिए दुनियाँ में सात्विक कार्य कम हो रहे हैं। पाप कर्म अत्यधिक हो रहे हैं। देश में सतोगुण बढ़ाने के लिए अधिकाधिक बच्चे सतोगुणी ही हों इसके लिए श्री प्रभुजी ने यह योगपरक तरीका अपनाया था। सतोगुणी लोग दुनियाँ में जितने अधिक होंगे उतना ही अच्छा है। समस्त दुनियाँ में फैल कर सत्यपूर्ण योग का प्रचार करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय मनमुटाव स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे। अतः माता–पिता का यह परम् कर्तव्य है कि अपने बच्चों को शुरू से प्रेम और शान्ति पूर्ण वातावरण प्रदान करें ताकि उनके विकास में कोई विघ्न न पैदा हो। साथ–साथ यौगिक संस्कार भी डालते चलें।

मैंने अपने माता–पिता के विरोधी स्वभावों के टकराव के दुष्प्रभाव को अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभूत किया। मेरे पिताजी सरल स्वभाव के थे और माताजी हमेशा से महत्वाकांक्षी और स्वाभिमानी महिला रही हैं। आर्थिक स्थिति अधिक अच्छी न होने के कारण दोनों में प्रायः झगड़ा बना ही रहता था। मेरे माता–पिता विरोधी गुणों के कारण कभी भी किसी कार्य को लेकर एक मत नहीं हो पाते थे। परिणाम यह हुआ कि कलह और अशान्तिपूर्ण वातावरण में मेरे मन की कभी एकाग्रता नहीं बन सकी और मेरी अनेक योग्यताएँ मेरे अन्दर ही घुट कर समाप्त हो गयीं। दुर्लभ समय व्यर्थ में नष्ट होता रहा। मेरी माताजी की मनोकामनाएँ धनवानों की श्रेणी की थीं जो कभी पूर्ण नहीं हो सकीं, इस कारण से '**कामात्क्रोधोऽभिजायते**' के सिद्धान्तानुसार मेरी माँ के अन्दर स्वाभाविक ही क्रोध बहुत पैदा होने लगा था जिसका शिकार मैं भी कई बार हुआ। एक बार कई महिलाओं के मध्य बैठी मेरी माँ की तरफ दृष्टिपात करते हुए श्री गुरुदेव जी अचानक पूछने लगे— "क्यों देवी, तुझे क्रोध बहुत आता है न ? गुरुदेव घट–घट की जानते थे माँ ने सिर हिलाकर अपना स्वीकारात्मक उत्तर दिया। गुरुदेवजी ने उसीदिन मेरे माँ के ऊपर अपनी कृपा दृष्टि कर दी थी। धीरे–धीरे अब आकर माँ के स्वभाव में काफी अन्तर आ चुका है। इस संकेत के समय में एक बड़ा लाभ यह हुआ कि अपने–पराये की ठीक–ठीक पहिचान हो सकी। सच तो ये है कि सिवाय गुरुदेव के मेरे पूरे परिवार को कोई अपना सा नहीं लगा।

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने विरोधी गुणों के इस सिद्धान्त की चर्चा में, विश्वबन्धुत्व, को परस्पर मानव प्रेम, पारवारिक प्रेम की भावना को लोगों के ह्रदयों में दृढ़ करने के लिए निम्न दोहा कितना सुन्दर और सरल लिखा है जिसमें थोड़ा गहराई से चिन्तन करने पर गोस्वामी जी की प्रबल विश्व प्रेम की भावना प्रतिबिम्बित होती है—

जहँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहँ कुमति तहँ विपति निधाना।।

जिस किसी भी परिवार में परस्पर मतभेद हुआ वह नष्ट हो गया; जिस परिवार में परस्पर प्रेम रहा वह अपनी उज्जवल चमक लेकर दुनिया में प्रकाशित हुआ। उक्त दोहे का ऐसा सत्य प्रभाव विश्व का प्रत्येक मानव अपने–अपने परिवार में अनुभूत करता है। किन्तु खेद है लोगों ने इसके भाव और उपयोगिता को केवल

अपने परिवारों तक ही सीमित रखा इसका दायरा सिर्फ इतना ही नहीं है। विश्व जीवन के हर संघर्ष मे इस दोहे की उपयोगिता है।

सुमति–कुमति, सम्पति–विपति परस्पर विरोधी गुणों वाले ये शब्द–युग्म श्री गोस्वामी जी ने उक्त दोहे में प्रस्तुत किये है। पारवारिक सुख–शान्ति से लेकर विश्व व्यापी सुख–शान्ति की सुन्दर भावना इस में व्यक्त की गई है। प्रथम पंक्ति स्वीकारात्मक है; दूसरी पंक्ति नकारात्मक है। द्वितीय पंक्ति का भाव वही है जो प्रथम का है। अतः दोनों अलग–अलग होकर भी एक ही है।

यही सिद्धान्त समूची सृष्टि में सक्रिय है। 'पुण्य' स्वीकारात्मक; 'पाप' नकारात्मक। इसी प्रकार 'सुख' स्वीकारात्मक है और 'दुःख' नकारात्मक। ये विरोधी गुण प्रथक–प्रथक होकर भी एक ही हैं। इनके सन्तुलित योग में उसी प्रकार आनन्द की प्राप्ति होती है जिस प्रकार पोजीटिव और निगेटिव दो विपरीत तारों के सन्तुलित योग से विद्युत धारा का लाभ (आनन्द) उठाया जाता है।

प्रथम पंक्ति में स्वामी जो परस्पर विरोधी गुणों में समायोजन बनाने की प्रेरणा देते हैं। इसके परिणाम की व्याख्या में वे कहते हैं कि जीवन की अनुकूल–प्रतिकूल दोनों प्रकार की स्थितियों में समायोजन बना कर जीवन व्यतीत करने वाले को प्रेम और शान्तिपूर्ण वातावरण मिल जाने से सभी प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। दूसरी पंक्ति में, जो प्रथम पंक्ति से ही सम्बन्धित है गोस्वामी जी समग्र मानव जाति में परस्पर प्रेम और शान्ति की दृढ़ भावना पैदा करने के लिए उन्हें चेतावनी देते है। कि **'कुमति'** अर्थात् विरोधी गुणों के परस्पर टकराव होने पर **'विपति'** अर्थात महाविनाश की ही उम्मीद रखनी चाहिए। शान्ति की तो कल्पना ही व्यर्थ है। विश्व युद्ध का भय प्रकट करके विश्व–शक्ति हेतु परस्पर प्रेम और शान्ति को अपनाने का संदेश देने वाली उक्त पंक्तियाँ कहने को तो भगवान श्री राम के प्रत्येक भक्त को कंठस्थ हैं किन्तु इसके यथार्थ ज्ञान से सभी परिचित हों ऐसा आवश्यक नहीं। विश्व में यदि गणना करके देखा जाय तो भगवान श्री राम में आस्था रखने वालों की संख्या सर्वाधिक प्राप्त होगी। किन्तु जो महान पुरुषार्थ विश्व मानव के कल्याणार्थ श्री रामचरित मानस लिखकर संत शिरोमणि श्री तुलसीदास जी ने किया है, वर्तमान समय के सभी राम भक्त संयुक्त होकर भी उसके एक अंश के बराबर भी पुरुषार्थ नहीं कर सकते। वास्तव में श्री राम के दीवाने तो अब बहुत हो चले हैं किन्तु उन्हें ठीक से समझने वाला एक भी नहीं है। समस्त रामायण को कंठस्थ कर लेने से कोई लाभ नहीं होगा यदि इसके किसी एक ही दोहे–चौपाई को श्रद्धा से आत्मसात कर लिया जाय तो समस्त रामायण का सार समझ में आ जाता है। वर्तमान विश्व के संघर्षपूर्ण हालातों में सुधार लाने के लिए रामायण को रटने वाले अज्ञानी तोतों की आवश्यकता नहीं है बल्कि भगवान श्री राम जी के चरणों में गहरी प्रीति और निष्ठा रखने वाले, विवेक ख्याति सम्पन्न गोस्वामी श्री तुलसीदास जैसे श्री राम के अनन्य भक्तों की आवश्यकता है। जहाँ इतने श्री रामजी के भक्त होते हों वहाँ अशान्ति, भ्रष्टाचार, पापाचार..... ..क्या यह कम आश्चर्य की बात नहीं है ? ये तो राम के सच्चे भक्त हो ही नहीं सकते यदि होते तो रामराज्य के दर्शन अवश्य होते।

❋ ❋ ❋

सद्‌गुरु की आवश्यकता

विष्णुप्रसाद व्यास

महापुरुषों और पूर्वजों के इतिहासों से यह विदित होता है कि भक्ति का विषय अत्यन्त गूढ़ और महा सूक्ष्म है। यह बहुत ही गहरा विषय है। यह एक ऐसी आनन्ददायक वस्तु और सुखदायी तत्व है तथा गम्भीरतम मार्ग है जिसका बोध सद्‌गुरु के बिना तीनों काल नहीं हो सकता।

महापुरुषों ने इस भक्ति के विषय पर प्रकाश डालते हुए विस्तार से प्रतिपादित किया है इस दुर्गम और महान समस्या का समाधान सत्पुरुषों व महापुरुषों की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता। इस भक्ति पथ पर यदि कोई जीव अपने ही आधार पर और अपनी बुद्धिमता से सफलता प्राप्त करना चाहे तो बहुत कठिन है। इस पथ में अशान्त जीव शान्ति लाभ करे अन्यथा इसकी आवश्यकता ही क्या है ? इसकी अपेक्षा ही क्यों कर है ? वास्तव में ध्येय तो यह है कि जीव माया की लपेट में आकर अशान्त हुआ फिरता है इससे विमुक्त हो जाय और प्रभु के चरणों में प्रेम के तार जोड़कर सच्चे आनन्द को प्राप्त कर ले।

ऐसी प्रचण्ड माया जिसने शिव और ब्रह्मा को भी नचाया है–क्या उससे स्वतन्त्र होने में जीव स्वयं समर्थ है ? इस माया ने जब बड़ों–बड़ों को नचा दिया तो यह अल्पज्ञ जीव किस तरह इससे लोहा ले सकता है ? सन्त कथन करते हैं कि जीव अपनी शक्ति से इसका सामना नहीं कर सकता। यह किसी समर्थ शक्ति की सहायता लिये बिना अपने आप इससे छुटकारा नहीं पा सकता।

जीव को यदि भक्ति की आवश्यकता है तो उसे सन्त सद्‌गुरु की शरण में जाना नितान्त आवश्यक है।

श्री महात्मा यीशु मसीह ने भी अपने शिष्यों के समक्ष घोषणा की–

I am the door through which you have to enter to meet Him.

भाव यह है "मैं वह द्वार हूँ जिसमें से गुजर कर प्रभु का मिलाप तुम्हें सम्भव है।

इसलिये सद्‌गुरु की आवश्यकता उस मानव के लिये अनिवार्य है जो आत्मा के दर्शनों का अभिलाषी है। जिसे आनन्द को पाने की आकांक्षा है और जो इन नश्वर पदार्थों से उपरत होकर माया और मायावी पदार्थों की दासता से छूटने की इच्छा रखता है।

गीता में श्री कृष्ण भगवान अपने प्रिय भक्त अर्जुन को भक्ति का रहस्य बतलाते हुए समझाते हैं।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। —गीता १८/६६

हे अर्जुन ! तू सब कर्म फलों की आशा को त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्द घन परमात्मा की ही शरण ले ले। मैं सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा— तू किसी प्रकार शोक न कर।

यही आश्वासन महात्मा ईसामसीह जी भी विश्व के प्राणियों को देते हैं—

Come unto Me and I shall dispel all thy sufferings. मेरी शरण लो और मैं तुम्हारे सारे दुःखों का नाश कर दूँगा।

किसी भी मत को लें—हर एक का सिद्धान्त यही है कि सद्गुरु के बिना अर्थात् पीर और मुर्शिद के बिना माया से छुटकारा पाना और अपने में दिव्य ज्योति का दर्शन करना असम्भव है।

वेद शास्त्रों में और सद्ग्रन्थों में सब जगह सद्गुरु की अनिवार्य आवश्यकता पर ही बल दिया है। जिन्होंने सद्गुरु शरण लेकर इस राह की कमाई की है वे अपने अनुभव से लिखते हैं—

हरि सेवा सोलह बरस, गुरु सेवा पल चार।

तो भी नहीं बराबरी, शुकदेव कहयो विचार।।

गर्भ योगीश्वर शुकदेव जब २ वर्ष माता की कोख में रहकर और कई वर्ष जंगलों में स्वतन्त्रता से घोर तपस्या करने पर भी पूर्ण शान्ति प्राप्त न कर सके तो उन्हें भी गुरु की आवश्यकता प्रतीत हुई और वे महाराजा जनक की शरण में गये, जो उस समय में विख्यात राजर्षि थे। उनसे दीक्षा ली और गुरु शब्द (नाम) का अभ्यास करते हुए सच्ची शान्ति का लाभ लिया— तब कहीं जाकर वे माया के चंगुल से बच सके। उसी दशा में ही उन्होंने ऊपर लिखित श्लोक कहा।

इसी प्रकार से अन्य महापुरुषों ने भी अपने—अपने अनुभवों के आधार पर सद्गुरु की महिमा का बखान किया है।

गुरु हैं बड़े गोविन्द ते, मन में देखु विचार।

हरि सुमिरै सौ बार है, गुरु सुमिरै सौ पार।।

श्री कबीरदास जी के वचन हैं कि— 'ऐ जिज्ञासु ! अपने मन में विचार करके देख ले कि गुरु की महिमा हरि की पूजा से बड़ी है। ईश्वर का आराधन करते हुए भी जीव कर्मों के जंजाल से नहीं छूट सकता, परन्तु सन्त सद्गुरु की कृपा से सहज में ही भवसागर से पार हो जाता है क्योंकि सन्त सद्गुरु ही जीव से निष्काम कर्म कराते हैं।

परन्तु खेद से कहना पड़ता है कि ऐसी दिव्य विभूतियाँ जब ब्रह्मधाम से उतर कर सर्वसाधारण के कल्याण के लिये इस धराधाम पर आती हैं तो जन—साधारण उनकी परीक्षा न करके उन्हें सामान्य मनुष्य समझते हैं।

उन लोगों के सम्बन्ध में परम सन्त कबीर जी कथन करते है–

गुरु मानुष करि जानते, ते नर कहिये अन्ध।
महा दुःखी संसार में, आगे जम के बन्ध॥
कबीर ते नर अन्ध हैं, गुरु रूठे नहिं ठौर॥

वे लोग मन्द बुद्धि हैं जो गुरु को साधारण मनुष्य की भाँति समझते है वस्तुतः सद्‌गुरु की महिमा अपार है। ऐसी भावना रखने वाले मनुष्य अपने लोक और परलोक दोनों को बिगाड़ लेते है वे न यहाँ सुखी रहेंगे और न ही मृत्यु के बाद सुखी हो सकेंगे। उनकी तो इतनी अगाध महिमा है कि कहीं हरि भी रूठ जावे तो पूर्ण सद्‌गुरु अपने आंचल में लेवेंगे और यदि गुरुदेव ही रुष्ट हो जावे तो जीव को कहीं और आश्रय नहीं रहेगा।

आध्यात्मिक गुरु आत्मिक रहस्यों का ज्ञान कराते हैं और अन्तर के भेद बताते हैं। वे जिज्ञासु को अपनी काया के अन्दर ही विश्वपति का निजधाम दर्शाते हैं। पग–पग पर साथ रहकर जीव का नेतृत्व करते हैं जिससे जीव कहीं भटक न जाय।

अतएव जिस किसी को अपने मानवीय तनु का भरपूर लाभ उठाना है और आत्म साक्षात्कार करने की उत्कण्ठा हो उसे आवश्यक है कि वह किसी सन्त सद्‌गुरु की खोज करे, उनसे नाम की दीक्षा लेकर अभ्यास करे जिससे यह जीवन सफल होवे।

***

देवपुरी अयोध्या

वेदों में मानव देह को

अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पूर अयोध्या

कहकर इंगित किया गया है। देवनगरी यह इसलिए है कि इसमें इन्द्रिय रूपी देवता निवास करते हैं, आत्मा इन देवताओं का राजा–इन्द्र है। देह में निवास करने वाले इन देवताओं में कभी युद्ध या विवाद नहीं होता इसलिए इस पुरी का नाम अयोध्या है। सभी एक दूसरे के सहकारी और सहयोगी बनकर आत्मा यानी इन्द्र की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहते हैं। मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र चक्र तक इस नगरी में आठ चक्र हैं। जिनसे इस पुरी में सर्वत्र जीवन रस का संचार होता रहता है। ऐसी अनुपम देवपुरी को पाकर अपने कुकर्मों द्वारा और असद् वृत्तियों के द्वारा राक्षस पुरी बनाने का जो काम करते हैं वे ही आत्मघाती कहलाते हैं।

पञ्चाक्षर–मन्त्र की महिमा

(कल्याण से साभार)

'शिवोऽयं परमो देवाः शक्तिरेषा तु जीवजा।' 'ॐ नमः शिवायेति याजुषमन्त्रोपासको रुद्रत्वम्प्राप्नोति। कल्याणम्प्राप्नोति। य एवं वेद।' (त्रिपुरतापिन्युपनिषत्)

सर्वव्रतेषु सम्पूज्य देवदेवममापितम्।

जपेत पञ्चाक्षरीं विद्यां विधिनैव द्विजोत्तमाः।।

(सूत जी कहते हैं–) 'हे मुनीश्वरो ! समस्त व्रतों में देवदेव उमापति भगवान शिव की अर्चना करने विधि से पञ्चाक्षरी विद्या का जप करना चाहिए।

ऋषियों ने पूछा कि पञ्चाक्षरी विद्या कौन है ? उसका क्या प्रभाव है और जप का क्या विध ान है ? यह श्रवण करने की हमारी इच्छा है, आप इसका वर्णन करें।

सूत जी बोले–हे मुनीश्वरों ! एक समय पार्वती जी के प्रति शिवजी ने इस विषय में जैसा वर्णन किया था, वही हम आपको सुनाते हैं–

पञ्चाक्षरस्य महात्म्यं वर्षकोटिशतैरपि।

नशक्यं कथितुं देवि तस्मात् संक्षेपतः शृणु।।

श्री महादेवजी पार्वती जी से कहने लगे–'देवि ! पञ्चाक्षर मन्त्र के महात्म्यका वर्णन करोड़ों वर्षों मे भी होना कठिन है, परन्तु संक्षेप में हम सुनाते हैं, उसे सुनो। प्रलयकाल में स्थावर जंगम देव, असुर नाग इत्यादि नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति के रूप मे तुम भी लीन हो जाती हो। तब हम अकेले ही रहते हैं, कोई दूसरा अवशिष्ट नहीं रहता। उस समय वेद और शास्त्र' हमारी शक्ति द्वारा पालन किये हुए पञ्चाक्षर मंत्र में निवास करते हैं। फिर जब हम दो रूप धारण करते है, तब हमारी प्रकृति ही मायामय शरीर धारण कर नारायणरूप से समुद्र में शयन करती है। उसके नाभिकमल से पञ्चमुख ब्रह्मा उत्पन्न होकर सृष्टि करने की सामर्थ्य–प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। एक बार ब्रह्माजी की प्रार्थना सुन उनके हित के लिए मैंने पाँच मुखों से पाँच अक्षरों का उच्चारण किया। उन वर्णों को ब्रह्मा जी ने पाँच मुखों से ग्रहण किया और वाक्य–वाचक भाव करके परमेश्वर को जाना। पाँच अक्षरों द्वारा त्रैलोक्यपूजित शिव वाच्य है। यह 'पञ्चाक्षर मन्त्र' शिव का वाचक है। उस मन्त्र को तथा उसकी विधि को जानकर बहुत काल जप करके सिद्धि पाकर जगत के हित के लिए अपने पुत्रों को भी

ब्रह्मा जी ने उस पञ्चाक्षर मंत्र का उपदेश किया। ब्रह्मा जी ने उस मन्त्र को पाकर भगवान शिवजी को प्रसन्न करने के लिए मेरु पूर्वत को मुञ्जवान शिखर पर दिव्य हजार वर्ष तक तप किया। उन दृढ़ भक्ति देख भगवान ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर लोक हित के लिए पञ्चाक्षर–मन्त्र के महर्षि, छन्द देवता, शक्ति, बीज षडंगन्यास, दिग्बन्ध और विनियोग का उपदेश किया।

वे ऋषिगण भी इस तरह मंत्र का महात्म्य सुनकर अनुष्ठान करने लगे। क्योंकि उसी के प्रभाव से देवता, मनुष्य, असुर, चार वर्णों के धर्मादि, वेद, ऋषि तथा शाश्वत धर्म और यह जगत् स्थित है।

पञ्चाक्षर मंत्र अल्पाक्षर है, परन्तु अनन्त अर्थों से युक्त है। वेद का सार, मुक्ति देने वाला, असंदिग्ध, अनेक सिद्धि देने वाला, सुख से उच्चारण करने योग्य, सब कामना देने वाला, सब विद्याओं का बीज मंत्र, सब मन्त्रों में आदि मंत्र, वट–बीज की भाँति बहुत विस्तार–युक्त और परमेश्वर का वाक्य पञ्चाक्षर ही हैं उसके आदि में प्रणव लगा देने से यह 'षडक्षर' हो जाता है।

'पञ्चाक्षर–मंत्र तथा 'षडक्षर–मन्त्र' में वाच्य–वाचक भाव से शिव स्थित है। शिव वाच्य है और मन्त्र वाचक है, यह वाच्य वाचक–भाव अनादि सिद्ध है। जिस पुरुष के हृदय में पञ्चाक्षर मंत्र विद्यमान है, मानो उसने सारे शास्त्र और वेद पढ़ लिए, क्योंकि शिव ही ज्ञान है, इतना ही परम पद है, इतनी ही ब्रह्म विद्या है। इसलिए नित्य पञ्चाक्षर मंत्र को जपना चाहिए। पञ्चाक्षर भगवान शिवजी का हृदय, गुह्य से भी गुह्य और मोक्ष ज्ञान प्राप्ति का सबसे उत्तम साधन है।

जप के प्रभाव को जानकर सदाचार में तत्पर हो निरन्तर जप करें तो अवश्य कल्याण हो। आचारहीन पुरुष का सब साधन निष्फल होता है। परम धर्म और परम् तप आचार ही है! आचार युक्त पुरुष को कहीं भी भय नहीं रहता। सदाचार के पालन करने से पुरुष ऋषि और देवता तक बन जाते हैं। मुख्यतः असत्य का त्याग करें क्योंकि सत्य ब्रह्म है और असत्य ब्रह्म का दूषण है।

असत्य तथा कठोर वाक्य, पैशुन्य (चुगली) परस्त्री, पराधन तथा हिंसा–इनको मन, करम, वचन से त्याग दें।

***

सिद्धयोग के लेखकों से निवेदन

सिद्धयोग के स्तम्भ हमारे विद्वान लेखक एवं मनीषी ही हैं। गुरूकुल की सेवा के रूप में उनका प्रयत्न सदा ही स्तुत्य रहता रहा है। उनसे निवेदन है कि वे अपने लेख यथा संभव प्रतिमाह भेंजे ताकि लेखों का अभाव न रहे। उनके इस सारस्वत सेवा के लिये सिद्धयोग प्रबन्ध मण्डल सदा ही आभारी रहेगा।

लेखकों के साथ—साथ हम अपने सभी ग्राहकों से भी निवेदन करते हैं कि वह नियमित ग्राहक बने रहें। यदि वार्षिक शुल्क अभी तक नहीं भेजा हो तो शुल्क भेंजे तथा नये ग्राहक बनाकर गुरू परिवार की सेवा में भागीदार बनें। सिद्धयोग का लक्ष्य है योग विद्या के अमर सिद्धान्तों को जिज्ञासु समुदाय में प्रचारित व प्रसारित किया जावे। ताकि उनको पढ़कर वे योग के यथार्थ स्वरूप को समझें तथा उन पर चलकर शाश्वत एवं दिव्य जीवन की ओर अग्रसर हो। ग्राहकों को अपना शुल्क व्यवस्थापक सिद्धयोग अथवा सम्पादक सिद्धयोग, सिद्धयोग कार्यालय श्री सिद्ध गुफा संवाई के नाम से ही भेजने चाहिये। जय गुरुदेव !

व्यवस्थापक
सिद्धयोग

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008 जून 1998

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक

उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book Post

श्री ------------------------

शान्तिपाठ

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥६॥

—(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात्

वे निर्मल—निर्विकार और अवयवरहित—अखण्ड परमात्मा प्रकाशमय परमधाममें विराजमान हैं; वे सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थोंके भी प्रकाशक हैं तथा उन्हें आत्मज्ञानी महात्माजन ही जानते हैं।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिग प्रेस, बसई काली, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326